Year 1, Issue 4
Oct.-Dec., 2004

VASUDHA   A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष १ - अंक ४, अक्टूबर-दिसम्बर २००४

वसुधा
संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
द्यूत	डॉ. नरेन्द्र कोहली	३
प्रश्नोत्तर	स्नेह ठाकुर	१०
दीपिका	डॉ. परेश	११
हिन्दी देश-विदेश में	डॉ. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त अग्रहरि	१४
कुछ स्नेह डालो	डॉ. भगीरथ ब ोले	१६
पापा गूँगे नहीं थे	बनाफर चन्द्र	१७
बूढ़ा पे	डॉ. अरविन्द ठाकुर	२४
अतीत के झरोखे में : वैशाली	अशोक प्रियदर्शी	२५
चैतन्य	अक्षय गोजा	२७
दुबले दो कौ ी के !	डॉ. जवाहर चौधरी	२८
बुद्धि भी अधीर हो चली	राजेन्द्र 'राजेश'	२९
अरी सुहागिन करवे लो	सुधा गोयल	३०
गाँधी जी के बाल्य-संस्कारों की पृष्ठभूमि और उनके राष्ट्रभाषा के विचार	डॉ. विजयराघव रेड्डी	३३
गाँधी और गुण्डे	आचार्य संदीप कुमार त्यागी 'दीप'	३६
कल्लो रानी	श्रवणकुमार गोस्वामी	३७
मौन	सुमन कुमार घई	४१
पश्चाताप	डॉ. इन्द्रा भटनागर	४२
संस्कार कभी नहीं डूबते	डॉ. अंजना संधीर	४५
अंतिम हस्ताक्षर	चन्द्रकांता	४६
इतिहास की मुक्ति	डॉ. सुषम बेदी	५०
एक रात एक इमारत में	डॉ. शंकर पुणतांबेकर	५१

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।
रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534

संपादकीय (अंक ४, अक्टूबर-दिसम्बर २००४)

वसुधा ने एक साल का सफ़र तय कर लिया है। वसुधा का यह अंक इस वर्ष का अंतिम अंक है। वसुधा के सुविज्ञ, सहृदय पाठकों ने अपने अनेकानेक पत्रों द्वारा वसुधा को सराहा है, इसके लिए मैं उन सबकी आभारी हूँ। पर यह सिर्फ़ मेरे ही प्रयास की सफलता नहीं है। इस सराहना के, इस सौभाग्य के अनेकानेक पात्र हैं, अधिकारी हैं। विश्वास मानिए, मैं अकृतज्ञ नहीं हूँ कि आप सब ने जिस स्नेह से स्नेह को स्नेह दिया है, उसे अपना सौभाग्य न मानूँ। अवश्य ही मैं इसे आपके द्वारा प्रदत्त सौभाग्य मानती हूँ और इसके लिए विनम्र कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि स्नेह पर आप सबका यह स्नेह सदैव बना रहे। पर साथ ही यह भी कहना चाहूँगी कि वसुधा की इस सफलता में आप सबका, साहित्यकारों व पाठकों का श्रेय जुड़ा हुआ है। यह हम सबकी मिली-जुली मेहनत का प्रतिफल है। सबके सहयोग का ही यह श्रीफल है।

वसुधा के रचनाकारों ने मेरे आँचल में अपनी रचनाओं के अनमोल मोती डाले, पाठकों ने हंस की भाँति उन मोतियों को चुना, सराहा। वसुधा का हर साहित्यकार धन्यवाद का पात्र है; प्रत्येक ने अपनी रचनाओं से वसुधा को समृद्ध किया। वसुधा का हर पाठक धन्यवाद का पात्र है कि उन्होंने इन हीरों को परखा और सराहा। ईश्वर से प्रार्थना है कि हम सब इसी तरह जुड़े रहकर, हिन्दी को उसके सम्मानित शिखर पर स्थापित करने के प्रयास में प्रयत्नशील रहें। मैं संपादिका के रूप में, लेखिका के रूप में, इससे बढ़कर और माँग भी क्या सकती हूँ।

वसुधा में रचनाकारों के परिचय नहीं दिये जा रहे हैं, इसका मूल कारण यह है कि मेरा ध्येय है कि पाठक रचनाकारों को उनकी रचना से याद करें। रचनाकार क्या है, कौन है, कहाँ का है, उसका कितना नाम है, उसे कितने सम्मान मिल चुके हैं, आदि की दृष्टि से रचना को न जाँचे-परखें वरन् रचना के माध्यम से रचनाकार को जाने-पहचाने व याद करें। मेरा विचार है कि तभी रचनाकार की रचनात्मकता, सृजनात्मकता संतुष्ट होगी जब बिना किसी परिचय के, बिना देश-काल-स्थान-परिधि-सीमाओं के, बिना रचनाकार की आयु, अनुभव या यहाँ तक कि बिना उनकी साहित्यिक आयु जाने, केवल उनकी रचनाधर्मिता के बल पर ही पाठक उन्हें सराहें। मुझे गर्व है कि इस क्षेत्र में वसुधा के सभी रचनाकारों को पूर्ण सफलता मिली है।

यद्यपि कि पत्रिका का बाह्य कलेवर सर्वोत्तम रूप में प्रस्तुत न हो सका था तथापि पाठकों ने इसकी गुणवत्ता को सराहा जो, पत्रिका, संपादिका व वसुधा से जुड़े हुए साहित्यकारों के लिए अनमोल निधि है। व्यक्तिगत रूप से साहित्यकारों और पाठकों की शुभकामनाओं की अद्वितीय, अपरिमित लॉटरी मुझे मिल गई जो अप्रतिम है।

यह समय महोत्सव का है। विजयादशमी, दीपावली . . . राम की रावण पर विजय; अच्छाई की बुराई पर विजय . . . राम के अयोध्या लौटने के उपलक्ष्य में महोत्सव; दीपावली - प्रकाश-पर्व। ईश्वर से प्रार्थना है कि उसकी अनुकम्पा से हम सबका जीवन उज्ज्वल, प्रकाशमय हो। प्रकाश-पर्व शिक्षा, ज्ञान एवं सांस्कृतिक उन्नयन का प्रकाश आलोकित करे।

वसुधा की ओर से सभी विद्वान साहित्यकारों व सुविज्ञ पाठकों को हार्दिक शुभकामनाएँ।

सस्नेह,

स्नेह ठाकुर

द्यूत

डा. नरेन्द्र कोहली

युधिष्ठिर ने मय दानव के माध्यम से सभा बनवाई तो राजसूय यज्ञ कर मानवता के कल्याण के लिए विद्वानों को वहाँ एकत्रित किया और विभिन्न राजाओं से एकत्रित धन विद्वानों, ब्राह्मणों, बुद्धिजीवियों में बाँटा। इसकी प्रतिक्रिया में दुर्योधन ने जिस तोरणस्फटिक सभा[1] का निर्माण करवाया, मेरा अनुमान है कि वो आधुनिक कैसीनो जैसा कोई संस्थान था, जिसमें मनोरंजन के नाम पर द्यूतक्री ा का आयोजन होता था। उसमें न ब्रह्मचर्चा हो सकती थी, न भक्ति पूजा, न हवन यज्ञ की कोई संभावना थी, न विचार और चिंतन हो सकता था, न उदात्त भावनाओं का अदान-प्रदान। उसमें क्री ा के नाम पर द्यूतक्री ा ही हो सकती थी। निश्चित् रूप से उसमें भाग लेने के लिए, प्रसिद्ध और व्यसनी द्यूतकार आए होंगे। युधिष्ठिर न केवल राजाओं में अग्रणी और सम्राट थे, वे पांडवों और धार्तराष्ट्रों में सबसे ज्येष्ठ थे। वे धृतराष्ट्र के बुलाने पर एक प्रकार के पारिवारिक उत्सव में भाग लेने के लिए हस्तिनापुर आए थे। महाभारत में जिस क्षत्रिय समाज का चित्रण है, वह प्रायः द्यूतप्रेमी है। इसीलिए दुर्योधन ने अपने गौरव के रूप में द्यूत के आयोजनार्थ तोरणस्फटिक सभा का निमार्ण कराया।

धर्मराज युधिष्ठिर को अनेक लोग द्यूतव्यसनी मान कर उनकी निन्दा करते हैं। बलराम ने अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर उपप्लव्य नगर में उन पर यह आरोप लगाया है। यह बात बहुत तर्कसंगत नहीं लगती। धर्म का पालन करने वाले को सिवाय धर्म के दूसरा कोई व्यसन हो ही नहीं सकता।

हस्तिनापुर आने से पहले इन्द्रप्रस्थ में विदुर और युधिष्ठिर में बहुत खुल कर विचार विनिमय हुआ है, जिसमें युधिष्ठिर ने द्यूत का भयंकर विरोध किया है। हस्तिनापुर पहुँच कर एक पूरा अध्याय युधिष्ठिर और शकुनि के उस वादविवाद का है, जिसमें शकुनि ने द्यूत का समर्थन और युधिष्ठिर ने उसका विरोध किया है। युधिष्ठिर की उक्तियाँ हैं :

१. 'जूए में तो झग ा फसाद होता है। कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा .... '[2]
२. 'मेरे मन में जुआ खेलने की इच्छा नहीं है।'[3]
३. 'जूआ तो एक प्रकार का छल है तथा पाप का कारण है। इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है, और न उसकी कोई निश्चित् नीति ही है।'[4]

युधिष्ठिर को जूए का व्यसन होता तो वे निरन्तर जूए की निंदा क्यों करते? कोई व्यसनी अपने व्यसन की निंदा नहीं करता। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर को द्यूतक्री ा का तनिक भी ज्ञान नहीं था। हस्तिनापुर की द्यूतसभा से पहले वे कभी जूआ खेलते दिखाए भी नहीं गए। इस द्यूत में अपना सर्वस्व गँवाकर, वन जाते हुए पांडवों के मन में यह भय है कि कहीं धृतराष्ट्र उन्हें पुनः जूआ खेलने के लिए न बुला लें। ऐसे में वो पांडवों के अस्त्र-शस्त्र भी जीत सकते हैं। परिणामतः पांडव सर्वथा अशक्त और असहाय हो जाएँगे। इसीलिए पहला अवसर मिलते ही युधिष्ठिर वन के मार्ग में मुनि बृहद्श्व से द्यूत और अश्वपालन की विद्या सीखते हैं। उनसे द्यूत विद्या सीखकर ही वे कंक के रूप में विराट के दरबार में उनके सहचर बन कर रह सकने में समर्थ होते हैं।

मेरे लिए यह स्वीकार करना बहुत कठिन है कि जिस व्यक्ति को द्यूत का ज्ञान ही न हो, वह उसका व्यसनी हो सकता है। फिर भी हम देखते हैं कि वे द्यूतसभा में न केवल जूआ खेलते हैं, वरन्

---

1. महाभारत के अनुसार उस भवन का नाम, जिसमें द्यूत खेला गया।
2. १०/५८, सभापर्व।
3. १६/५८, सभापर्व।
4. ५/५९, सभापर्व।

अंत तक खेलते हैं, और अपना सर्वस्व हार कर उठते हैं। उनके इस व्यवहार का कोई स्पष्टीकरण तो होना ही चाहिए।

युधिष्ठिर की एक उक्ति को विचार-विमर्श में बार-बार उद्धृत किया जाता है। जहाँ युधिष्ठिर यह कहते हैं कि वैसे तो जूआ खेलना बुरी बात है, अनर्थ की ज है, किन्तु यदि उन्हें बुलाया जाएगा तो वे पीछे नहीं हटेंगे। इस उक्ति की व्याख्या करते हुए अनेक लोगों ने यह स्वीकार किया है कि यह युधिष्ठिर का क्षात्रधर्म था। क्योंकि क्षत्रिय युद्ध और द्यूत की चुनौती को अस्वीकार नहीं करता। किंतु हमें इस ओर ध्यान देना चाहिए कि युधिष्ठिर ने अपना क्षात्र गौरव अथवा क्षात्र अभिमान कभी प्रकट नहीं किया। उन्हें क्षत्रिय धर्म की नहीं, केवल धर्म की चिंता थी। जहाँ तक क्षत्रियों के युद्ध की बात है, युधिष्ठिर को महाभारत के युद्ध में एक स्थान पर पलायन करते भी चित्रित किया गया है। इसीलिए युधिष्ठिर क्षत्रियों के व्यसन की निन्दा करते हैं। यहाँ जूए के लिए 'आहूत ' शब्द का प्रयोग है, जो चुनौती के अर्थ में नहीं, धृतराष्ट्र के बुलावे के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। धर्मराज तथा उनके भाई, उन लोगों में से हैं, जो अपने छोटे से धर्म के लिए, ब ी से ब ी परीक्षा देने के लिए प्रस्तुत हैं। इसीलिए युधिष्ठिर मन में पूर्णतः विरोधी भाव रखते हुए भी धृतराष्ट्र के बुलावे का सम्मान रखने के लिए, जूआ खेलने बैठ जाते हैं।

महाभारत में पांडवों के संदर्भ में धृतराष्ट्र के लिए कहीं भी ताऊ शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। मूल श्लोकों में उनको पिता ही कहा गया है। यद्यपि पिता शब्द का अर्थ पालनकर्त्ता होता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि पांडु की अनुपस्थिति में धृतराष्ट्र ही पांडवों के लिए पिता के स्थान पर थे। किंतु वारणावत जाते हुए, पांडवों के विषय में यह कहा गया : सर्वा मातृस्तथाअपृच्छय कृत्वा चैव प्रदक्षिणत[5]। यहाँ माताओं से आज्ञा लेने की चर्चा है। हम जानते हैं कि कुन्ती के अतिरिक्त पांडु की एक ही पत्नी थी - माद्री। उसका देहांत हो चुका था। इसी लिए पांडवों की कोई दूसरी माता नहीं थी। फिर भी वहाँ माता शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। वह शब्द गांधारी और विदुर की पत्नी के लिए है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे लोग पिता के भाईयों को पिता के समकक्ष, समतुल्य और स्थानापन्न मानते थे। और ताई तथा चाची को भी अपनी माता ही स्वीकार करते थे। यह स्थिति केवल सम्बोधन के लिए नहीं थी। व्यवहारतः भी वे लोग इन संबंधों को स्वीकार करते थे। ऐसी स्थिति में धृतराष्ट्र का प्रत्येक आदेश युधिष्ठिर के लिए पिता का आदेश था।

स्वामी विवेकानंद ने एक स्थान पर कहा है कि धर्म के अनेक रूप हैं और विभिन्न लोगों में उनका धर्म विभिन्न गुणों में प्रकट होता है। किसी का धर्म सत्य में है, किसी का कर्म में, किसी का आज्ञापालन में, किसी का सेवा में, किसी का वचन की रक्षा में इत्यादि। युधिष्ठिर का धर्म उनके सत्य में था। और उसका सत्य ब ों की आज्ञा के पालन में भी निहित था। ऐसी स्थिति में यह जानते हुए भी कि धृतराष्ट्र उनके प्राणों का हरण भी कर सकते हैं, या यह जानते हुए भी कि धृतराष्ट्र की इच्छा है कि हस्तिनापुर का राज्य दुर्योधन को मिले - उसके लिए चाहे पांडवों को यमलोक ही भेजना प े, युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। वे पिता की आज्ञा का पालन लगभग उतनी ही निष्ठा से कर रहे हैं, जितनी निष्ठा से राम दशरथ की आज्ञा का पालन करते है। साधारण सांसारिक व्यक्ति के लिए यह युधिष्ठिर की मूर्खता हो सकती है; किंतु युधिष्ठिर का चरित्र साधारण सांसारिक मनुष्य की दृष्टि से निर्मित नहीं हुआ है। वे धर्मराज हैं। अपने धर्म का पालन अपनी धन संपत्ति ही नहीं अपने प्राण देकर भी वे करेंगे। ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर धृतराष्ट्र से तर्क तो कर सकते हैं, किंतु उसकी आज्ञा का पालन करने से इंकार नहीं कर सकते। द्यूतसभा में हुई द्यूतक्री ा के संदर्भ में युधिष्ठिर अपने इसी धर्म के वचन में बँधे हुए दिखाई प ते हैं। वे द्यूतक्री ा का निरन्तर विरोध कर रहे हैं। किन्तु जूआ खेलने से मना नहीं करते। क्योंकि यह धृतराष्ट्र का आदेश था।

5. ४/१४४, आदिपर्व।

अध्यात्म और संसार का विरोध सर्वविदित है। सांसारिक रूप से सफल व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से निकृष्ट कोटि का जीव सिद्ध हो सकता है। और आध्यात्मिक रूप से विकसित उत्कृष्ट जीवात्मा, सांसारिक दृष्टि से महामूर्ख दिखाई प ती है। युधिष्ठिर का चरित्र भी आध्यात्मिक रूप से अत्यन्त विकसित चरित्र है और निरंतर विकास कर रहा है। उनके आदर्श सांसारिक नहीं आध्यात्मिक हैं।

इन्द्रप्रस्थ में विदुर की चेतावनी के पश्चात् वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, 'मैं राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जूए में अवश्य चलना चाहता हूँ। पुत्र को पिता सदैव प्रिय है।[6] धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुँच कर भी उन्होंने कहा, 'राजन् ! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिए, हम क्या करें। भारत ! हम लोग सदा आपकी आज्ञा के आधीन रहना चाहते हैं।'[7] वे तो महाभारत का युद्ध जीत लेने के पश्चात् भी सारा राज्य धृतराष्ट्र को सौंपने को प्रस्तुत हैं; क्योंकि पिता स्वामी है और पुत्र उसकी आज्ञा में है।

एक बार सब कुछ हार कर द्रौपदी के भरपूर अपमान के पश्चात् जब धृतराष्ट्र के वरदान स्वरूप, युधिष्ठिर को अपना राज्य और सम्पत्ति वापिस मिल जाती है तो पाठक चैन की साँस लेता है। किन्तु युधिष्ठिर को पुनः बुलाया जाता है और वह पुनः जूआ खेलने बैठ जाते हैं। कोई भी साधारण पाठक यही पूछता है कि यह पागलपन क्यों? उनके पुनः द्यूत में उपस्थित होने का भी ठीक वही कारण है, जो पहली बार था - पिता और राजा धृतराष्ट्र का आदेश :

१. 'भरतकुल भूषण पांडुनन्दन युधिष्ठिर ! आपके पिता राजा धृतराष्ट्र ने यह आदेश दिया है कि आप लौट आएँ। हमारी सभा फिर सदस्यों से भर गई है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पांसे फेंक कर जूआ खेलो।' [8]

२. युधिष्ठिर ने कहा, 'समस्त प्राणी विधाता की प्रेरणा से शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। जान प ता है, मुझे फिर जूआ खेलना प ेगा। वृद्ध राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जूए के लिए यह बुलावा, हमारे कुल के विनाश का कारण है। यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।' [9]

३. '...लोगों की तरह-तरह की बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठर लज्जा के कारण तथा धृतराष्ट्र के आज्ञा पालन रूपी धर्म की दृष्टि से पुनः जूआ खेलने के लिए उद्यत हुए।' [10]

जूआ खेलने बैठकर उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन किया। फिर क्यों आवश्यक था कि वो अंत तक जूआ खेलते ही जाते; और अपना सर्वनाश करने के पश्चात् ही उठते? वे किसी भी समय वहाँ से उठ सकते थे। इस समस्या का समाधान खोजते हुए मेरा ध्यान विदुर के व्यवहार की ओर जाता है। वे पांडवों के सबसे ब े हितू थे। वे द्यूत का भयंकर विरोध करते हैं। बार बार हाथ उठाकर धृतराष्ट्र से आग्रह करते हैं कि वह जूआ रोकें; किंतु एक बार भी युधिष्ठिर से नहीं कहते कि 'बहुत हुआ। पुत्र ! द्यूत छो कर उठ ख ा हो।'

इसका अर्थ क्या है? स्पष्टतः द्यूत राजा की आज्ञा से आरंभ हुआ है और उसी की आज्ञा से रोका अथवा समाप्त किया जा सकता है। धृतराष्ट्र की आज्ञा के बिना, युधिष्ठिर उठ नहीं सकते; और जूआ खेलते हुए उन्हें कुछ न कुछ तो दाँव पर लगाना ही है। इस सारी प्रक्रिया में यह भी लगता है कि यह द्यूत द्वंद्वयुद्ध के समान अंत तक चलता है। द्वंद्वयुद्ध एक योद्धा की मृत्यु पर ही समाप्त होता है, उसी प्रकार यह द्यूत भी एक पक्ष के सर्वस्वहरण के पश्चात् ही समाप्त होगा। युधिष्ठिर अपनी जिस बाध्यता में खेल रहे हैं, वह स्पष्ट है। इसीलिए जब तक उनके पास किसी भी प्रकार का कोई धन शेष है, वे द्यूत छो कर उठ नहीं सकते। शायद यही कारण है कि वे एक प्रकार की शीघ्रता में हैं कि यदि वे जीत नहीं सकते तो शीघ्रताशीघ्र सब कुछ हार जाएँ। जूआ समाप्त हो और वे उठ सकें।

---

[6]. १५/५८, सभापर्व।
[7]. १/७६, सभापर्व।
[8]. २/७६, सभापर्व।
[9]. ३-४/७६, सभापर्व।
[10]. १८/७६, सभापर्व।

अपने जानते, सब कुछ हार कर वे रुक जाते हैं। अपने भाईयों और स्वयं अपने शरीर को वे पहले ही हार चुके हैं। जब युधिष्ठिर स्वयं को भी हार जाते हैं तो शकुनि उनसे कहता है, 'राजन् ! आप अपने को दाँव पर लगाकर जो हार गए, यह आपके द्वारा ब ा अधर्म कार्य हुआ। धन के शेष रहते हुए, अपने आप को हार जाना महान् पाप है। + + + राजन् ! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अब तक नहीं हारे हैं; अतः कृष्णा को अब दाँव पर रखिए और उसके द्वारा फिर अपने को जीत लीजिए।' [11] इसका अर्थ यह हुआ कि द्यूतक अपना कोई धन बचाकर रखना भी चाहे तो वह उसे बचा नहीं सकता। यह अधर्म है। इस तथ्य को ध्यान में रखें तो युधिष्ठिर की स्थिति समझ में आती है कि वे धर्म और मर्यादा के किन नियमों में बँधे हुए जूआ खेल रहे थे। वे अपने मन में स्नेह और सौहार्द्र लेकर हस्तिनापुर आए थे। पाडंवों और कौरवों में जो मनोमालिन्य था, वे उसे दूर करना चाहते थे। व्यास की चेतावनी उनके मन में थी और द्यूतक्री ा में मतभेद हो जाने के कारण परस्पर मारपीट तथा हत्याएँ इत्यादि हो जाना, कोई ब ी बात नहीं थी। श्रीकृष्ण के ब े भाई बलराम के द्वारा रुक्मी का वध इसका उदाहरण है। युधिष्ठिर नहीं चाहते होंगे कि द्यूत की मर्यादा का भंग करने का आरोप लगा कर, दुर्योधन और उसके साथी किसी प्रकार का उपद्रव कर सकें। उससे जिस स्नेह और सौहार्द्र की खोज में वे आए थे, वह तो नष्ट हो ही जाए, क्षत्रियों के विनाश का एक कारण भी उपस्थित हो जाए और व्यास ने जिस विनाश की आशंका तेरह वर्षों के बाद जताई थी, वह उसी समय तत्काल उपस्थित हो जाए।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि धर्मराज युधिष्ठिर जूए में भी धर्म का पालन कर रहे हैं और कपटी तथा छली शकुनि उन पर अधर्म का आरोप लगा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप तत्काल युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दाँव पर लगा दिया और हार कर धर्म-रक्षा करते हुए वह कलंक अर्जित किया, जिसे समाज आज तक क्षमा नहीं कर पाया।

धर्मराज युधिष्ठिर का प्रत्येक कृत्य धर्म की रक्षा के लिए ही है। यदि वह जूआ नहीं खेलते तो पिता की आज्ञा का पालन न होता, जो अधर्म था। निमंत्रण का तिरिस्कार नहीं कर सकते, क्योंकि उससे पिता का तिरिस्कार होता। पिता की आज्ञा का उल्लंघन होता। वे देख रहे थे कि दुर्योधन, धृतराष्ट्र और शकुनि ने उन्हें उन्हीं के धर्म के जाल में बाँध दिया था; और उन्हें चारों ओर से घेरकर उनका आखेट कर रहे थे। फिर भी उनके मन में धर्म का उल्लंघन कर, शांतिभंग कर बाहुबल से अपनी स्वतंत्रता को अर्जित करने अथवा अपने राज्य और धन की रक्षा करने का विचार नहीं आया।

पहला दाँव हारते ही युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा, 'शकुनि ! शकुनि !! तुम ने छल से इस दाँव में मुझे हरा दिया।' [12] इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि शकुनि ने क्या छल किया है। महाभारत में इस प्रकार की अनेक बातों का स्पष्टीकरण नहीं है। मुझे लगता है कि उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाए तो कुछ निष्कर्ष हमारे हाथ अवश्य लगते हैं। यदि युधिष्ठिर के साथ दुर्योधन जूआ खेलता, तो बहुत संभव था कि इस क्री ा से अनभिज्ञ, युधिष्ठिर की इतनी दुर्गति न होती, जितनी शकुनि के साथ खेलने पर हुई। इस पूरी क्री ा में पांसे युधिष्ठिर के हाथ में आए ही नहीं। आरम्भ से अंत तक शकुनि ही पांसे फेंकता रहा और युधिष्ठिर का धन जीतता रहा। दुर्योधन की ओर से शकुनि क्यों खेल रहा था और युधिष्ठिर की ओर से कोई दक्ष द्यूतकार वहाँ क्यों नहीं बैठाया गया, इसका कोई स्पष्ट उत्तर महाभारत में उल्लिखित नहीं है। युधिष्ठिर इस प्रकार की कोई आपत्ति भी नहीं करते। संभव है कि उस समय ऐसी कोई परम्परा रही हो कि जैसे युद्ध में राजा की ओर से सेनापति ल ता है, वैसे ही द्यूत में राजा की ओर से कोई दक्ष द्यूतक खेलता हो। किन्तु युधिष्ठिर अपने साथ कोई चतुर खिला ी नहीं लाए थे, क्योंकि वे द्यूतक्री ा के लिए आए ही नहीं थे। वे तो अपने पिता के निमंत्रण पर एक पारिवारिक उत्सव अथवा सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आए थे; और बाध्य किए जाने पर द्यूत में बैठ गए थे। शायद तब तक उनको यह अनुमान ही नहीं था कि धृतराष्ट्र द्यूत बंद करने का आदेश ही नहीं देंगे।

---

[11]. ३०-३२/६५, सभापर्व।

[12]. १/६१, सभापर्व।

प्रत्येक दाँव से पहले युधिष्ठिर यह कहते हैं कि यह धन मेरा है और इसे दाँव पर लगा कर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ। यह उक्ति कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जुआरी अपना धन ही दावों पर लगाए। न तो वह दूसरे के धन से जूआ खेल सकता है और न अपना धन शेष रहते जूए से उठ सकता है। इसीलिए जहाँ युधिष्ठिर को प्रत्येक दाँव से पहले एक प्रकार से शपथपूर्वक यह कहना प ता है कि यह धन मेरा है, वहीं शकुनि अपने धन से नहीं खेल रहा है और दुर्योधन भी युधिष्ठिर के दाँव के सम्मुख अपना कौन सा धन लगा रहा है, यह स्पष्ट नहीं करता। जब युधिष्ठिर यह कहते हैं, 'इसके बदले में तुम्हारी ओर से कौन सा धन दाँव पर रखा जाता है, जिस धन के द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो?'[13] तो दुर्योधन उत्तर देता है, 'मेरे पास भी मणियां और बहुत-सा धन है। मुझे अपने धन पर अहंकार नहीं है। आप इस जूए को जीतिए।'[14] स्पष्टतः दुर्योधन तथा शकुनि कहीं भी स्पष्ट रूप से न तो नियमों का पालन करते हैं और न ही दाँव सम्बंधी स्पष्टता वहाँ दिखाई देती है। उनके सारे व्यवहार पर एक प्रकार का छलछंद छाया हुआ है। इस बात का स्पष्ट अवकाश वहाँ है कि यदि किन्हीं कारणों से उनका पक्ष हारने भी लगे तो वे अपना विशेष नुकसान नहीं होने देंगे। वे चातुर्य से युधिष्ठिर को लूट रहे थे और युधिष्ठिर अपने धर्म का पालन कर रहे थे।

२

यहाँ बार-बार ध्यान इस बात की ओर जाता है कि जब अपने ही धन को दाँव पर लगा कर खेलना है तो धन की परिभाषा क्या है? युधिष्ठिर की ही उक्तियों से यदि निष्कर्ष निकाले जाएँ तो राज्य की भूमि, धन, प्रजा, सेना, यहाँ तक कि अन्य पांडवों के शरीर पर सुशोभित आभूषण - यह सब कुछ राजा का धन है, अर्थात् युधिष्ठिर का धन है। इसमें अपवाद केवल वह भूमि है, जो ब्राह्मणों को उनकी आजीविका स्वरूप दी गई है और प्रजा में भी केवल ब्राह्मण ही राजा का धन नहीं है। लगता है कि केवल बुद्धिजीवी - अध्ययन, अध्यापन अथवा साधना करने वाला वर्ग, तथा उनका धन राजा का धन नहीं है। वे लोग स्वतंत्र हैं। दूसरी ओर परिवार का मुखिया अपने परिवार का स्वामी है। इसीलिए पत्नी, पुत्र, छोटे भाई और उनकी पत्नियाँ भी उसका धन हैं।

यही कारण है कि भीम जैसा क्रोधी और उदंड व्यक्ति, सब कुछ देखते और समझते हुए भी युधिष्ठिर का विरोध नहीं करता, क्योंकि धर्मतः वह युधिष्ठिर का धन है। यदि वह विरोध करता है तो वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है। इस सारे प्रसंग में जहाँ युधिष्ठिर ने अपने धर्म का पालन किया है, वहीं शेष पांडवों और द्रौपदी ने युधिष्ठिर की नीति से विरोध होते हुए भी अपने धर्म को तिलांजलि कभी नहीं दी।

एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी को दुःशासन केशों से पक कर घसीटता हुआ सभा में लाया है तो भी द्रौपदी ने एक बार भी यह नहीं कहा कि युधिष्ठिर को उसे जूए में हारने का कोई अधिकार नहीं था। उसने अधिक से अधिक यही पूछा है कि युधिष्ठिर स्वयं को पहले हारे या द्रौपदी को। वह उसी सामाजिक धर्म के अन्तर्गत रह कर, समाज द्वारा मान्य सारी मर्यादाओं के भीतर ही धर्म का विश्लेषण कर रही है। यदि युधिष्ठिर पहले स्वयं अपने आप को हार गए, तो वे दुर्योधन के दास बन चुके थे। ऐसे में एक स्वतंत्र नारी, रानी अथवा राजकुमारी, पर एक दास का कोई अधिकार नहीं रह जाता। यदि युधिष्ठिर स्वयं को पहले हार चुके थे तो द्रौपदी को दाँव पर लगाना धर्म नहीं था। शकुनि ने यह तो कहा कि अपना धन शेष रहते हुए युधिष्ठिर का स्वयं को हार जाना अधर्म का काम हुआ; किन्तु यह नहीं कहा कि अब वह द्रौपदी को दाँव पर नहीं लगा सकते। वरन् उसने युधिष्ठिर को उकसाया कि वे अब द्रौपदी को दाँव पर लगाएँ और अपने अधर्म का प्रतिकार करें।

भीष्म का संकट भी इसी प्रश्न को लेकर था। जिस प्रकार द्रौपदी यह नहीं कहती कि युधिष्ठिर को उसे दाँव पर लगाने का अधिकार नहीं था, उसी प्रकार भीष्म भी पत्नी को अपने पति के स्वामित्व से मुक्त नहीं मानते। इसीलिए युधिष्ठिर को जहाँ अपने भाइयों को दाँव पर लगाने का अधिकार था, क्योंकि वे उसका धन थे, वहीं उन्हें द्रौपदी को भी द्यूत मे लगाने की बाध्यता थी, क्योंकि वह भी उनका धन थी। किंतु जिस समय युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दाँव पर लगाया, उस समय युधिष्ठिर स्वयं स्वतंत्र नहीं थे। जब द्रौपदी भीष्म से पूछती है कि धर्म क्या है? तो भीष्म स्पष्ट रूप से

---

13. एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोअस्ति कस्तव। येप मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यये।। ७/६०, सभापर्व।

14. सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च। मत्सरश्च न मे अर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम।। ८/६०, सभापर्व।

कोई उत्तर नहीं दे पाते। वे कहते हैं कि धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। पांडवों में इस समय सबसे उग्र प्रतिक्रिया भीष्म की है। वह कहता है, 'भइया युधिष्ठिर ! जुआरियों के घर में प्रायः कुलटा स्त्रियाँ रहती हैं, किन्तु वे भी उन्हें दाँव पर लगा कर जूआ नहीं खेलते। उन कुलटाओं के प्रति भी उनके हृदय में दया रहती है। काशिराज ने जो धन उपहार में दिया था, और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिए लाए थे तथा अन्य राजाओं ने भी जो रत्न हमें भेंट किए थे, उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर और हम सब भाइयों को भी, शत्रुओं ने जूए के दाँव पर रखवा कर अपने अधिकार में कर लिया। किंतु इसके लिए मेरे मन में क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्व के स्वामी हैं। पर द्रौपदी को जो दाँव पर लगाया गया, इसे मैं बहुत अनुचित मानता हूँ। वह भोली-भाली अबला पांडवों को पति रूप में पाकर इस प्रकार अपमानित होने के योग्य नहीं थी। परन्तु आपके कारण यह नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकार के कष्ट दे रहे हैं। राजन् ! द्रौपदी की इस दुर्दशा के लिए मैं आप पर ही अपना क्रोध छो ता हूँ। आपकी दोनों बाँहें जला डालूँगा, सहदेव ! आग ले आओ।'[15] भीम ने चाहे अपना कितना क्रोध प्रकट किया हो, किंतु उसने एक बार भी यह नहीं कहा कि युधिष्ठिर को द्रौपदी को दाँव पर लगाने का अधिकार नहीं था। वह यह तो कहता है कि द्रौपदी को दाँव पर नहीं लगाना चाहिए था, क्योंकि द्रौपदी को कौरवों द्वारा दिया जा रहा कष्ट उससे देखा नहीं जाता। किंतु इसमें युधिष्ठिर के अधिकार को चुनौती कहीं भी नहीं दी गई है।

इस प्रकार यह सारा प्रसंग धर्म के प्रश्न को लेकर प्रस्तुत किया गया है। यह धर्म समाज द्वारा मान्य अधिकारों और आचरण पर आधृत है। इस धर्म के अंतर्गत यह प्रश्न नहीं उठाया गया कि एक स्त्री के सार्वजनिक अपमान को देख कर वहाँ उपस्थित वीरों का धर्म उसके सम्मान की रक्षा का था या नहीं था। इसके ठीक विपरीत जब वन में जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण करता है तो पांडव न केवल उससे युद्ध करते हैं, वरन् उसे हर प्रकार से पीि त करने के पश्चात् जीवित केवल इसलिए छो देते हैं, कि वह उनकी बहन दुःशला का पति है। इस धर्म में अधिकांशतः सारा विचार-विमर्श तथा आचरण अधिकार और सम्पत्ति को लेकर ही है। यदि द्रौपदी पत्नी होने के नाते युधिष्ठिर का धन है और धन के शेष रहते युधिष्ठिर द्यूत से उठ नहीं सकते, तो पत्नी को धन के रूप में द्यूत पर लगाना युधिष्ठिर की बाध्यता थी। इसीप्रकार हारे हुए धन पर दुर्योधन के अधिकार को न मानना अधर्म था। इसीलिए पांडव क्षमता और इच्छा होते हुए भी पत्नी अथवा अपने सम्मान की रक्षा के लिए शस्त्र नहीं उठाते।

समाज द्वारा स्थिर किए गए नियमों को सामाजिक धर्म मानने वाले उस युग में एक श्रीकृष्ण ही इसके अपवाद दिखाई देते हैं। उनके लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि युधिष्ठिर ने पहले स्वयं को दाँव पर लगाया अथवा द्रौपदी को। उनके लिए महत्वपूर्ण तो यह है कि द्रौपदी का सार्वजनिक अपमान हुआ। शायद यही वह दृष्टिकोण था, जिसका विकास, उस समाज के रूप में हुआ, जहाँ पत्नी, संतान तथा छोटे भाई-बहन अपने पिता, पति अथवा ब े भाई की संपत्ति नहीं रह गए। कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्य का धन अथवा संपत्ति नहीं रहा। क्रमशः इसी से दास प्रथा भी समाप्त हुई और अब जब हम उस युग में जी रहे हैं, जहाँ हमें अपने पशु पर भी अत्याचार करने का अधिकार नहीं है, वहाँ किसी एक मनुष्य को दूसरे की संपत्ति कैसे माना जा सकता है।

इसी संदर्भ में एक रोचक प्रश्न यह भी है कि चाहे किन्हीं कारणों से युधिष्ठिर ने द्रौपदी को हारे बिना स्वयं अपने आप को दाँव पर लगा दिया और अब यदि युधिष्ठिर के हार जाने के कारण अंतिम दाँव खेला जा चुका और दास बन जाने के कारण युधिष्ठिर द्यूतक्री ा के अयोग्य हो गए, तो यदि वे द्रौपदी को दाँव पर लगाने से इंकार कर देते, तो स्थिति क्या होती? युधिष्ठिर स्वयं को हारने के पश्चात् द्रौपदी को दाँव पर न भी लगाते, तो भी द्रौपदी दास का धन होने के नाते दुर्योधन की दासी ही मानी जाती। सम्भवतः स्वयं को हार जाने के पश्चात् भी युधिष्ठिर ने द्रौपदी को इसीलिए दाँव पर लगाया कि उसे हारे बिना भी वे उसे बचा नहीं सकते थे। किंतु स्वयं दास होते हुए भी वे

---

[15]. १-६, ६८, सभापर्व।

द्रौपदी को दाँव पर लगाते हैं तो एक नई स्थिति पैदा होती है। अंत में जिस आधार पर द्रौपदी धर्म सम्बन्धी शास्त्रार्थ करती है, उसका आधार युधिष्ठिर द्वारा सायास प्रस्तुत किया गया प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि यदि युधिष्ठिर स्वयं को हार चुके थे और द्रौपदी बच ही गई थी, तो उन्हें द्रौपदी को दाँव पर लगाने की क्या आवश्यकता थी। वे यह तर्क दे सकते थे कि एक दास को यह अधिकार नहीं है कि वह एक स्वतंत्र नागरिक को दाँव पर लगाए। फिर भी उन्होंने उसे दाँव पर लगाया। क्यों?

यदि द्रौपदी को दाँव पर न लगाया गया होता, और दुर्योधन यह तर्क देता कि दास का धन स्वामी का धन है, इसलिए बिना दाँव पर लगे हुए भी द्रौपदी दुर्योधन का धन है। पांडवों की अन्य पत्नियाँ और उनके पुत्र भी इसी तर्क के आधीन, दुर्योधन का धन मान लिए जा सकते थे। दास का धन होते हुए भी यदि द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया तो इसका अर्थ स्पष्ट है कि पांडवों की अन्य पत्नियों और संतानों पर दुर्योधन को कोई अधिकार नहीं है। वे दाँव पर नहीं लगाए गए हैं। अपने आप को हारने के पश्चात् द्रौपदी को दाँव पर लगा कर युधिष्ठिर पांडवों की अन्य पत्नियों और संतानों को सुरक्षित कर लेते हैं। उनका यही दाँव द्रौपदी का भी सुरक्षा कवच बन जाता है। यदि वह दाँव पर न लगी होती, तो वह दुर्योधन का धन मान ही ली गई होती। किंतु दाँव पर लगने के कारण यह तर्क उसके हाथ लगा कि दाँव पर लगे बिना वह कौरवों की दासी नहीं हो सकती। युधिष्ठिर स्वयं को हार चुके थे, इसलिए उन्हें उसे दाँव पर लगाने का कोई अधिकार नहीं था। इसी तर्क के आधार पर अंततः द्रौपदी की ही नहीं, पांडवों की भी मुक्ति हुई। स्वयं को हार कर बिना हारे शेष बचे धन - द्रौपदी- को दाँव पर लगा देने का यह कृत्य, द्यूत की मर्यादा के भीतर एक सोची समझी चाल है, जिसने द्रौपदी और पांडवों की रक्षा की। उस पूरे द्यूत में एक यही दाँव था, जो शकुनि के विरुद्ध युधिष्ठिर जीत पाए। अन्यथा तो सारा द्यूत वे हार ही चुके थे।

यह शास्त्रार्थ द्रौपदी ने केवल अपने तर्क के आधार पर ही नहीं जीता था। धृतराष्ट्र की सभा में दुर्योधन और उसके गुंडे मित्रों की उपस्थिति में कोई शास्त्रार्थ तर्क के आधार पर जीतना संभव ही नहीं था। इसके पीछे श्रीकृष्ण का शक्ति प्रदर्शन भी अत्यन्त स्पष्ट है। श्रीकृष्ण मात्र तात्कालिक सामाजिक मान्यताओं को ही धर्म की सीमा मान कर नहीं चलते। वे धर्म की मानवीयता तक जाते हैं और तात्कालिकता तो उनके लिए कोई महत्व ही नहीं रखती। देश और काल उनके लिए कोई सीमा ख ी नहीं करते। द्रौपदी के संदर्भ में भी उसके तर्कों तथा शास्त्र संबंधी उक्तियों को दुर्योधन अपने पशुबल से निरस्त कर ही चुका था। कुल वृद्धों के प्रति की गई धर्म और न्याय की गुहार भी कोई फल उत्पन्न नहीं कर पाई थी। भीष्म जैसे कुलवृद्ध धर्म की वैधानिक और लाक्षणिक सूक्ष्मताओं में उलझे हुए थे। उस समय द्रौपदी ने अपना महत्व जताते हुए एक प्रकार से चेतावनी दी थी कि उसके साथ न्याय न किया गया तो बाद में उनके लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। वह साधारण नारी नहीं है कि उसके साथ अन्याय कर वे अदंडित रह पाएँगे। अपना यही महत्व जताते हुए उसने कहा कि वह द्रुपद की पुत्री है, धृष्टद्युम्न की बहन है, पांडु की पुत्रवधु है, पांडवों की पत्नी है और श्रीकृष्ण की सखी है। उसके वस्त्र खींचते हुए दुःशासन पर उसके द्वारा उच्चरित किसी शब्द का, किसी नाम का कोई प्रभाव नहीं प ा; किन्तु श्रीकृष्ण का नाम आते ही उसके हाथ शिथिल हो गए। उसकी ऊर्जा समाप्त हो गई। उसका मस्तक चक्कर खा गया और वह निःसंज्ञ होकर गिर प ा। मैं इसी को श्रीकृष्ण का शक्ति-प्रदर्शन मानता हूँ। दुःशासन ने इन्द्रप्रस्थ की भरी सभा में सारे राजाओं की उपस्थिति में श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र द्वारा शिशुपाल का वध होते देखा था। प्रतिशोध अथवा दंड की बात तो दूर, किसी ने श्रीकृष्ण के इस कृत्य पर आपत्ति भी नहीं की थी। दुःशासन को वही सुदर्शन-चक्र अपनी सभा में भी मँडराता दिखाई दिया था। द्रौपदी के यह कहने पर कि वह श्रीकृष्ण की सखी है, दुःशासन की समझ में यह बात आ गई थी कि धर्म के प्रावधान, सामाजिक मान्यता तथा द्यूत की मर्यादा की आ में वे लोग, कोई भी अत्याचार कर पांडवों से तो अपनी रक्षा कर सकते हैं; किंतु श्रीकृष्ण से उन्हें कोई नहीं बचा सकता। अपने सम्मुख काल को देख कर ही दुःशासन के हाथ काँपे थे और सिर चकरा गया था। इसी स्थल पर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में एक और बात रेखांकित होती है - वे नारी के अपमान को किन्हीं भी परिस्थितियों में सहन नहीं कर सकते थे। पांडवों की सभा में भी जब शिशुपाल ने रुक्मिणी के विषय में अनर्गल प्रलाप आरम्भ किया था, तो उनका सुदर्शन-चक्र चला

था और कौरवों की अपनी सभा में भी द्रौपदी के अपमान के समय ही श्रीकृष्ण का सुदर्शन-चक्र प्रकट हुआ था।

प्रश्नोत्तर

स्नेह ठाकुर

पूछा कृष्ण से द्रौपदी ने
आखिर बचाई लाज तुम्हीं ने
तो फिर जल्दी क्यों न आ गए
क्यों इतनी देर लगाई तुमने?

कृष्ण ने वक्र मुस्कान से कहा
देर मैंने लगाई या तुमने !!
देर का मुझ पर आरोप न लगा
जैसे ही तूने बुलाया
मैं दौ ा चला आया

द्रौपदी भ क उठी
अरे ! अरे ! आरोप की बात भली कही
मैं तो अर्द्धनग्न हो गई थी
जब तुमने चीर-बढ़ोत्तरी करी

कृष्ण गम्भीर हो उठे
द्रौपदी को सम्बोधित कर बोले
अच्छा यह तो बताओ पांचाली प्रिये
जब तुम्हारा चीर-हरण हुआ
सबसे पहले तुमने किसे पुकारा?

द्रुपद-पुत्री को स्तम्भित पा
देवकीनन्दन स्वयं ही बोले
तुमने पाँचों पतियों से
व सभा के हर इंसान से
सहारा माँगा
सबका विश्वास किया
पर मुझे तो नहीं पुकारा

क्या यह सत्य नहीं?
गलत हूँ तो बता दो अभी
जब सबसे तुम्हारा विश्वास टूटा
तब आखिर में तुम्हें मेरा ध्यान आया

जैसे ही तुमने मुझे याद किया
मैं अविलम्ब ही पहुँच गया
अब तुम्हीं बताओ कृष्णा
है दोष किसका !
है दोष किसका !!

दीपिका

डा. परेश

सुबह एक ब ़े आकार के बोइंग ने बिल्कुल छत पर आकर जैसे अपनी उ ़ान को बिल्कुल स्थिर कर लिया - एक जानवर की तरह जो किसी निश्चित लक्ष्य पर उतरने के लिए हाथ-पाँवों को सिको़ कर चौकन्ना हो जाता है। उसकी कर्णभेदी आवाज़ से टी.वी.पर आते सीरियल के युद्ध-संगीत की ध्वनि बिल्कुल दब-सी गयी।

हृदय में उठते युद्ध को हम आधुनिकता के कृत्रिम साधनों से झुठलाने की कोशिश करते हैं, लेकिन मन में उम ़ते महासागर का हाहाकार रोके नहीं रुकता। सीरियल में राम एक बार फिर युद्ध को टालने की किंचित् कशमकश दिखाते हैं। लक्ष्मण ही नहीं, दर्शक भी क्रोध में आकर यह बोलने लगता है कि भगवान अब और सहन नहीं होगा - आक्रमण कर दो। वत्सल ईश्वर फिर भी अपने मन के कोने में दबी करुणा और क्षमा के वश कहते हैं कि किसी जन्म में यह भी मेरा सेवक रह चुका है, किन्तु अहंकार और अज्ञान के वश रावण की तरह आचरण कर रहा है। एक 'फ्लैश ' सीता बनी दीपिका का दिखाते हैं - जिसमें युद्ध के टलने की एक ही प्रपत्ति कि सीता मान जाय, सुनकर उसके होंठ काँपने लगते हैं, आँखों में पानी भर आता है। क्या एक स्त्री की देह के लिए रावण उतने लोगों की बलि देने जा रहा है। क्या देह देकर निरपराध राक्षसों के परिवारों की रक्षा की जाये। नहीं, वृहत्तर मूल्य की रक्षा के लिए, स्त्री के शील की रक्षा के लिए कितना भी विराट नरसंहार छोटा है। मेरा मन कहता है सीता देह नहीं, प्रेम की दीपशिखा है। इसे बुझने नहीं देना है। इसे आलोकित रहना है। राम के हृदय में यह अखण्ड आलोक कभी बुझेगा नहीं। जगत में देह-धारिणी सीता केवल भीतर की आलोकशिखा की प्रतिपूर्ति है।

'युद्ध' अंततः सुग्रीव को आदेश देना ही प ़ा। 'युद्ध' कैलाश पर कैलाशपति ने विस्मय से आँखें खोलीं। 'युद्ध' देवाधिदेव इन्द्र ने समस्त देवताओं को भाग लेने का आदेश दिया। 'युद्ध' तपोवन में रहते तपस्वियों ने मनःचक्षुओं से देखा। 'युद्ध' 'युद्ध' निरन्तर मन में हाहाकार करता युद्ध। दाम्पत्य में अर्थ-भार से चीखते पति-पत्नियों का आपस में युद्ध। पुरानी प्रेमिकाओं-प्रेमियों की निरन्तर स्मृति से उठता मौन-द्वन्द्व। अचाहे आये अतिथियों से चि ़चि ़ा हुआ छात्रों के झुण्ड में बेरोक-टोक बढ़ती काम-पिपासा के सार्वजनिक प्रदर्शन से मन में कई दिनों से उठती उदासी और खीझ। एक असहाय और अपमानित-सी स्थिति। प्रांत में कितना अधिक खून-खराबा, कैसी बेबसी, कैसी दुरभि संधि। पर्दे के पीछे राजसत्ता के हाथ क्यों बँधे हैं, कोई नहीं जानता।

घर से बाहर बहुत ही खिन्न मन लिए निकलना हुआ। एक शिव-भक्त मित्र प ़ोस में रहते हैं। उन्होंने बिना उसके मन की भावना देखे 'नमः-शिवायः ' का कार्ड हाथ में थमा दिया कि अपने ड्राइंगरूम में लगा ले। क्या नरसंहार बहुत समीप है? हो तो रहा है रात-दिन। मन में कितना तो युद्ध चल रहा है। दाम्पत्य की बे ़ियों में पति-पत्नी रात-दिन तिलमिलाते रहते हैं, कितनी तो हिंसा हो रही है। प ़ोसी दम्पति दरवाजे तक छो ़ने आये। नमस्कार करते समय टन्न से सोटी सर पर जमा ही दी, 'बहनजी को भी साथ लाया कीजिये।'

'बहनजी'.... ईश्वर ही बचाये। और युद्ध चल किससे रहा है।

उनसे विदा हो वह लोकल बस के स्टाप तक आ गया किन्तु उनका ड्राइंगरूम मन से उतरा नहीं। वे वहाँ अकेले ही बैठे थे। थो ़ी देर पहले देखे 'सीरियल' में डूबे थे कि 'राम' के माध्यम से प्रोड्यूसर ने बहुत-सी ज्ञान की बातें कही हैं। वस्तुतः यह सब काम पर 'अध्यात्म' की विजय है - उन्होंने पत्नी को चाय के लिए कह कर अपने विरेचन को विराम दिया।

उनकी बात से थो ़ी तसल्ली हुई। "पत्नी-पुत्र में भी अधिक न उलझना चाहिए। सब एक 'सीरियल' है। टी.वी. देखकर बंद कर देने जैसी ही तटस्थता रखनी चाहिए। संयोग से कोई पुत्र बन गया है, कोई पत्नी। वस्तुतः सबकी यात्रा अलग-अलग है।"

वह इस भरोसे से उनसे मिला था कि इनके घर में तो प्रेम होगा, कलह न होगी। कलह तो नज़र नहीं आयी। लेकिन उनकी शिव-भक्ति भी उसे तो उनकी अपनी सीता से झग ा न हो जाये का ही एक उपाय लगी।

बस देर से आयी। विश्वास था - कंडक्टर पचास पैसे वापिस न करेगा। ऐसा ही हुआ। किन्तु यह देख कर आधी तसल्ली हुई कि उसने टिकट वापिस न लिया। छुट्टी वाले दिन उन्हें कुछ अतिरिक्त पैसों की जरूरत होती है। पन्द्रह सैक्टर की लायब्रेरी पर उतरा। बाहर किसी पुस्तक प्रदर्शनी के पोस्टर लगे हुए थे। इच्छा न थी कि प्रदर्शनी देखे। नाम-मात्र की होगी। आकर्षण आजकल देश की राजधानी में होते 'पुस्तक-मेलों' का नहीं होता। यहाँ इस छोटे संस्करण में क्या धरा होगा। वाचनालय-कक्ष में पुरानी पत्रिकाओं के व्यंग्य विशेषांकों के अतिरिक्त कुछ भी नज़र नहीं आया। मनुष्य ऊपर से ही बन-सँवर कर रहता है। इसमें संदेह नहीं कि उसका भीतरी चेहरा वैसा ही है - जैसा कि कार्टूनिस्ट बनाते हैं। सारे पेज टेढ़े-मेढ़े चेहरों से भरे हुए। प्रर्दशनी में आक्सफोर्ड से छपी किपलिंग की कहानियों के दो भाग नज़र आये। शिलिंग या पाउण्ड में छपी कीमत से अनुमान न हुआ कि भारतीय मूल्य कितना है। कुछ क्रूर मुद्राओं में बैठे पुस्तक-विक्रेताओं से पूछने का साहस नहीं हो रहा था। एक-दो महिलाओं के आगमन से उनकी मुद्रा कुछ बदली तो साहस कर पूछा।

'दोनों का डेढ़ सौ रुपया' उत्तर मिला।

'एक?' उसने फिर साहस कर पूछा।

'कमीशन काटकर आपको स सठ रुपये में प`गा।' जेब में दस का एक नोट था जो पत्नी से झग कर जीता था - इस ताने के साथ कि, 'आज तो अपनी बदबू से सनी रोटियों से मुक्ति दो। कहीं डोसा खा लेने दो।'

लायब्रेरी से जल्दी ही बाहर आना हुआ, सो दोपहर की भूख उसे अभी न लगी थी। स्नान-ध्यान भी बाकी था। उसका मन हुआ कि क्यों न घर चलकर पत्नी को चकित किया जाय। कसाईघर को जाते गरीब मेमने-से दस के नोट का ख्याल आया। कंडक्टर फिर पचास पैसे के बजाय एक रुपया काट लेगा और इतने ब` नोट के लिए बहुत कुछ अपमानजनक कहेगा।

वह किसी तरह दूसरी तरफ से बस स्टाप पर गया। छुट्टी का दिन होने से जल्दी बस आने की उम्मीद न थी। एक महिला ने निराशा से समय पूछा और हताश भाव से पैदल ही एक ओर को चल दी।

जाने उसमें साहस जैसे भाव का उदय अचानक क्यों हुआ। इसी स्टाप पर कुछ समय पूर्व नगर-पुलिस ने दो खूँखार आतंकवादी मार गिराये थे। रसोई जैसे धुएँ से अजीब-सी गंध देती है - यहाँ का कोना भी मुझे कुछ घुटता-सा लगा। तो भी वह सीमेण्ट की बैंच पर बैठ गया। बसों के आने-जाने की तरफ से ध्यान हट गया। कुछ समाधि-सी आने लगी। एक बस आँखों के सामने से जा रही थी। नम्बर पढ़ा तो चौंका कि यह तो उसी की बस थी। लेकिन जाने क्यों किसी क्षति की नहीं बल्कि मुक्ति की ही अनुभूति हुई। तात्पर्य काल की रस्सी से गर्दन छूटी। कुछ समय निर्बाध बिताया जा सकता था। युनिवर्सिटी कॉफी-हाऊस में खाद्य-पदार्थ सस्ते मिलेंगे - सोच एक रिक्शे वाले को उसने रोका। रिक्शे पर बैठते ही मन और हल्का हो गया। बस और कंडक्टर के आतंक से मुक्ति हुई।

रिक्शा रेस्तराँ से कुछ पहले ही रोक लिया। ता के पंक्तिबद्ध पे हवा में फ फ ा रहे थे। स्टूडेंट सैन्टर एक धनवादी पेंटिंग-सा पूरे खुलेपन में शांत टिका हुआ था। कोई छात्र, वाहन इत्यादि न होने से मन और शांत हुआ। पूल और पार्किंग प्लेस के बीच तारों को हटाकर आने-जाने वालों ने छोटा-सा रास्ता बना रखा था। सावधान न रहने से कप` उलझते हैं। अचानक पीली कमीज़ में एक युवा छात्रा आम के घने पे ों के नीचे नज़र आयी। लगा उसे ही देख रही है। पूरे परिवेश में वह अकेली पीली पंखु ी-सी स्थिर ख ी थी - एक आलोक शिखा-सी। यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह उसे ही देख रही थी। इससे सुबह से अभी तक का बना हुआ विषाद अचानक घुलकर साफ हो गया। मन में एक अनजानी खुशी हुई। उसने उससे नज़रें हटायी नहीं और बिल्कुल पास पहुँचने पर नमस्ते की। उसे आह्लाद हुआ। उसकी ही छात्रा थी।

'अरे तुम क्या कर रही हो आज यहाँ, अकेले?' उसने पूछा।

'अकेली नहीं हूँ सर। इनडोर गेम्स चल रहे हैं।' उसने उत्तर दिया।

'मुझे बिल्कुल आइडिया न था। यों ही कॉफी के लिए आया हूँ।'

'सर, गेम्स में चलिए। हम कॉफी आपको वहाँ पिलाएँगे।' उसने आग्रह किया।

'नहीं हल्ले-गुल्ले से दूर ही रहूँगा। रेस्तराँ में रहूँगा - आना।'

'थैंक्यू सर !'

'होस्टलर हो न।'

'यस सर।'

लगा कोई दीपक है उज्ज्वल। काली पैंट, स्मार्ट, लेकिन बिल्कुल खिले हुए कमल-सा उत्फुल्ल चेहरा। बहुत पतले होंठ। लिपस्टिक हल्की-सी। आँखों में चमकता हुआ आकाश जैसे सीप में बंद मोती। सँवारी हुई भौहें। जू ` में आम्र बौर की गंध तुर्श-हल्की बूँदाबाँदी से घुली-सौंधी।

कॉफी से उसका मन और भी खुल गया। गोलाई में बने रेस्तराँ में खाली प ी कुर्सी-मेजें भी एक कला-दीर्घा का-सा आयाम ले रही थीं। कहीं से छात्रों का एक झुण्ड और आ गया और एक कोने में बैठ कर 'हैप्पी बर्थ डे टू मी', गाने लगा। जाहिर है 'हैप्पी बर्थ डे' उस दिन उनमें से किसी का न था।

खाद्य सस्ता मिला, लेकिन सत्रह सैक्टर वाली ताज़गी उसमें न थी। उसने दस रुपये में से कुछ बचाकर क्या करना था। बस के पचास पैसे रख शेष दो रुपये का नोट वेटर को दे दिया। टिप देखकर विपन्न चेहरे के वेटर पर एक आदरयुक्त सौम्यता आ गयी। उसे लगा उसे अपनी हल्दी लगी कमीज़ पर थो ी-सी शरम आयी।

उसे भी अपनी किसी-किसी छात्रा से शरम आती है। कभी कोई कह देती है, 'सर आपने कन्वेयंस नहीं रखी हुई।' कन्वेयंस माने कार या स्कूटर। छात्र कब समझेंगे ये चीज़ें व्यापारिक तबके के पास होती हैं। दो कमरों का किराया नगर में हज़ार रुपये हो गया है।

सैन्टर से उतरते समय गेम्स वाले छात्रों का झुण्ड मिल गया। उसे इन्फॉरमल ड्रेस में देख उनका मन भी प्रसन्न हुआ। सँक ` पुल पर ऊपर से आते एक जो ` के लिए सिकु कर रास्ता देना प ा। जो ा थो ा नीचे चला गया तो छात्रों ने समवेत स्वर में गाया, 'लेफ्टराइट, लेफ्टराइट' जाते जो ` के कूल्हों के उतार-चढ़ाव पर। अध्यापक होने के नाते उसे डाँटना प ा, 'यह क्या, तुम लोग जब जो ों में घूमते हो तो बाकी छात्र फब्तियाँ कसेंगे।'

'सर, ऐसी नोंक-झोंक तो चलती ही रहती है।'

'अच्छा, अब मैं नीचे जाऊँगा तो मेरे लिए तो नहीं कहोगे - मैं तो अकेला हूँ।'

'मैं आपके साथ नीचे तक चलूँगी।' वह पीली कमीज़ वाली छात्रा आ गयी थी।

उसने आभार वाली आँखों से उसकी ओर देखा। एक मामूली-सी स्थिति में भी उसकी ममता है कि उम प ी, साहस कि वह यह फब्ती सहने को तैयार है, कामना कि उसका साथ देगी, आदर कि कुछ न्यौछावर कर सकती हूँ। नारी गुणों की खान होती है। यह नारी केवल आदर की पात्र है। इसके शील की रक्षा के लिए कोई भी मूल्य छोटा है। यह आलोक-शिखा है - यह प्रेम की लौ है। यह राम के हृदय में अखण्ड जलती है। ऊपर का युद्ध छाया है। मन में बसी सीता की मूर्ति को कोई छू नहीं सकता। देह-सीता का जिसने अपहरण किया है, उसका विनाश आवश्यक है।

जीवन युद्ध चल रहा है। सूने रेस्तराँ को देख मन हुआ था वह अपने मन में बसी प्रतिमूर्त्ति को भी यहाँ आमंत्रित करे - सामने बिठाये - उसे देखे - अभ्यर्थना करे। कितना कठिन है यह लोक-मर्यादा को देखते हुए और कितना असंभव। मन में बसी मूर्ति को मन में ही पूजना होगा। 'दीपिका ! तुम्हारा आभार। तुम्हारी मर्यादा की रक्षा हो - इसके लिए रात-दिन युद्ध कर रहा हूँ देवी। रात-दिन जल रहा हूँ - लेकिन तुम्हारे मीठे आलोक में जी रहा हूँ।' उसके मन में निरन्तर कोई बोल रहा था।

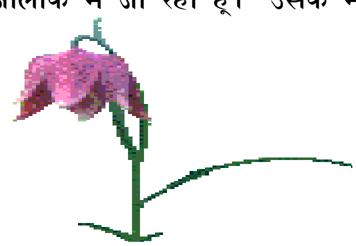

हिन्दी देश-विदेश में

डा. हरिकृष्ण प्रसाद गुप्त अग्रहरि

१४सितम्बर सन् १९४९ को हिन्दी राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। विश्व की भाषाओं में हिन्दी का तृतीय स्थान है, और आशा की जाती है कि इसका क्षेत्र दिन-प्रतिदिन विशाल होता जाएगा। भारत में हिंदी भाषियों की कुल संख्या तकरीबन ४६ करो मानी गई है। एक करो बीस लाख भारतीय मूल के लोग विश्व के १३२ देशों में बिखरे हुए हैं, जिनमें आधे से अधिक हिंदी से परिचित हैं। अँग्रेजी संसार के मात्र पाँच देशों की भाषा है।

विश्व के ३१ देशों के लगभग ११० विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा का अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान कार्य होता है। भारत के मात्र ८३विश्वविद्यालयों में ही हिन्दी का पठन-पाठन होता है। सम्पूर्ण भारत में लगभग ६९ भाषाएँ हैं, जिनमें हिंदी प्रमुख है। इसी तरह सम्पूर्ण भारत में ५४४ बोलियाँ या उपभाषाएँ हैं, जिनमें हिंदी प्रमुख बोली है। भारत और चीन में जो स्थिति हिंदी तथा चीनी भाषा की है वही इंगलैण्ड, कनाडा तथा अमेरिका में अँग्रेजी की है।

उपकुलपति सर आशुतोष मुकर्जी के सहयोग व पंडित सरल नारायण शर्मा की अध्यक्षता में एम.ए.(स्नातोकत्तर) हिंदी की कथाएँ सर्वप्रथम कोलकता विश्वविद्यलय में सन् १९१८ई. में प्रारंभ हुई। वैसे ख ी बोली हिंदी का श्रीगणेश कोलकता से ही हुआ था और शनैः-शनैः उसका उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और अन्य प्रांतों में प्रचार-प्रसार होने लगा। हिंदी का प्रथम व्याकरण 'डच ' भाषा में हालैण्ड निवासी श्री जॉनजेसुआ केटलर ने 'हिन्दुस्तानी भाषा' शीर्षक से सन् १६५०ई. में लिखा था।

भारत में सर्वप्रथम हिन्दी में प्रकाशित पुस्तक 'बँगला का व्याकरण' है जिसे सन् १७७८ई. में फोर्ट विलियम कालेज़ के नेयनिल ब्राण्टी ने लिखा था। इसकी एक मात्र प्रति इस समय केन्द्रीय सचिवालय - नई दिल्ली ग्रंथागर में सुरक्षित है। भारत में नागरी लिपि व हिन्दी जानने, बोलने, पढ़ने वाले या लिखने वाले लगभग ४२ करो लोग हैं। 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' - प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा - काशी, केन्द्रीय पुस्कालय और पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय - नैनीताल में पूर्व नागरी लिपि में लिखित पाण्डुलिपियाँ अमूल्य निधियों के रूप में सुरक्षित हैं।

'हिन्दी व्याकरण' के लेखक कामताप्रसाद गुरू हैं। यह सन् १९२०ई. में काशी से प्रकाशित हुआ था। सन् १८२४ई. में हिंदी प्राध्यापक विलियम प्राईश ने हिंदी और हिन्दुस्तानी का विभेद किया। अमीर खुसरो ने 'हिन्दी' शब्द भरतीयों के लिए, 'हिन्दवी' शब्द देशी भाषा के लिए प्रयोग किया। 'हिन्दी' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सातवीं सदी के अन्तिम चरण में 'निषीय चूर्षि' नामक ग्रंथ में मिलता है।

'हिन्दी शब्दानुशासन' हिन्दी व्याकरण के लेखक आचार्य किशोरीदास वाजपेयी हैं। हिंदी का प्रथम व्याकरण सन् १८७६ई. में सैम्यूल कैलॉग (अमेरिका) ने इलाहाबाद से प्रकाशित कराया था। हिन्दी का नवीनतम एवं अद्यतम नामक व्याकरण डॉ. जाल्मन दिम शित्स (मास्को), अहिंदी भाषी ने लिखा है, और अनुवादक श्री योगेन्द्र पाल हैं। 'रादुर्गा प्रकाशन' - मास्को से यह सन् १९८३ई. में प्राकशित हुई।

सिन्धुघाटी सभ्यता का निर्माता हरम्मणों ने आक्षरित चिह्न से लेकर वर्णात्मक लिपि का आविष्कार किया था। इसी आविष्कार में नागरी लिपि का अंक भी है। देवनागरी लिपि का टाइप एवं मुद्रण का कार्य सर्वप्रथम हालैण्ड में हुआ। सबसे अधिक अमेरिका के ३५ विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान कार्य होते हैं। अमेरिका में सर्वप्रथम पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ। बर्कले विश्वविद्यालय के 'दक्षिण एशियन विभाग' में हिन्दी भाषा का कार्य, पी.एच.डी.(डाक्टरेट) तक होने लगा है।

इंगलैण्ड में लंदन, कैम्ब्रिज और यार्क विश्वविद्यालयों में हिंदी का उच्च स्तरीय अध्यापन कार्य होता है। जर्मनी में कार्ल मार्क्स वि.वि., लाईमिंग और मार्टिन लूथर किंग तथा हार्ले विश्वविद्यालयों में हिंदी का अध्यापन कार्य होता है। यहाँ के हाईडेलवर्ग विश्वविद्यालय में पी.एच.डी. तक हिंदी सेवा उपलब्ध है। बोन (जर्मनी) विश्वविद्यालय के 'भारतीय विद्या विभाग ' में हिन्दी के अतिरिक्त ब्रजभाषा और

अवधि भाषा पढ़ाने की सुविधा उपलब्ध है। इसी तरह हंगरी की राजधानी बूडापेस्ट स्थित विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान कार्य होता है। ज्ञातव्य हो कि इस आलेख के लेखक ने अपने हंगरी के लम्बे प्रवास-काल (सन् १९६८से १९७७ई. तक) हंगेरियन छात्रों एवं छात्राओं को हिन्दी निःशुल्क पढ़ाने में सहयोग किया था। आज हंगरी की हिंदी की प्राध्यापिका डॉ. नेजेस मारिया हैं।

पोलैण्ड के वार्सा विश्वविद्यालय के 'प्राच्य विद्या विभाग में' हिन्दी का अध्यापन चलता है। उसी तरह चार्ल्स विश्वविद्यालय, चेकोस्लोवाकिया (अभी चेक गणराज्य) के भूतपूर्व प्रो. डॉ.ओदेनेल स्मेकल हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द के उपन्यास के 'ग्रामीण पात्र' विषय पर डाक्टरेट भी किया है जो कुछ वर्ष पहले चेक गणराज्य के राजदूत बन कर नई दिल्ली आये थे। डॉ.स्मेकल भारत, भारतीय संस्कृति और भारत की राष्ट्रभाषा के प्रति जो संवेदना रखते हैं, वह निश्चय ही रूहाना स्तर की है। यह सच उनकी कविता कहती है -

'मेरा घर यहाँ नहीं है अब,
वहाँ है दूर -
तीन महासागरों के घट पर
दीपकों, धूपबत्तियों के देश में।'

ज्ञातव्य हो कि इस आलेख के लेखक अपने हंगरी देश के अध्ययन काल में तीन बार उनसे उनके निवास स्थान में मिला था और उनका आतिथ्य-सत्कार प्राप्त कर खुश हुआ था।

बेल्जियम के स्टेट गेंण्ट विश्वविद्यालय के 'इण्डोलॉजी विभाग' में हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की पढ़ाई होती है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १८१६ई. में निदरलैण्ड (हालैण्ड) के प्रथम किंग विलियम द्वारा हुई। इसी प्रकार हालैण्ड की लेईडेन तथा उत्रेख्त विश्वविद्यालयों में, रोमानिया के बुखारेस्ट एवं याशिनगर विश्वविद्यालयों, स्वीडन के उप्पशल्ला एवं स्टॉकहोम वि.वि.में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन होता है। इसी प्रकार डेनमार्क के काबेल हावेन,काके वि.वि., युगोस्लाविया में जाग्रेव तथा बेलग्रेड वि.वि. में हिन्दी की पढ़ाई होती है। इतना ही नहीं, जापान में टोकियो, टाकूभेकू, ओसाका, ओतीनी, बुद्धिस्त टोकाई, क्योटा, चुओगाईकून, तैको और ओतमो वि.वि.में हिंदी पढ़ाई जाती है। इसी प्रकार चीन में बिजिंग वि.वि.'प्राच्य विभाग' में हिंदी का अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसंधान कार्य होता है। कोरिया, त्रिनिदाद, बैंककॉक, बर्मा, सिंगापुर, नेपाल, फीजी, मॉरिशस, गुयाना आदि देशों में हिन्दी का पठन-पाठन होता है।

सम्प्रति फीजी की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। वहाँ कई हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं। इस पंक्ति के लेखक ने अपने विश्वभ्रमण के समय स्वयं देखा था, परखा था। इसी तरह कनाडा में हिंदी की पढ़ाई अनेक विद्यापीठों में होती हैं।

विश्व की कुल २८००भाषाओं में जिन चार भाषाओं को प्रमुख स्थान मिला है उनमें हिन्दी दूसरे स्थान पर है जबकि पहला और तीसरा तथा चौथा स्थान क्रमशः चीनी, स्पेनिश और अँग्रेजी का है।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सर्वे के अनुसार इंगलैण्ड में हिन्दी, अँग्रेजी के बाद स्थान रखती है। आने वाले समय में संसार में केवल २२प्रमुख भाषाएँ होंगी, जिनमें हिन्दी भी एक रहेगी। पिछले पचास वर्षों में हिन्दी ने जितनी उन्नति की हैं उतनी संसार की किसी अन्य भाषा नें नहीं की है।

इंटरनेट और कम्प्यूटर विद्वानों ने देवनागरी को सर्वाधिक शुद्ध और समर्थ लिपि माना है। हिन्दी के एक लाख साठ हजार शब्द इंटरनेट पर आ गये हैं। २१वीं शताब्दी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए स्पेनिश, फ्रेन्च और इटालियन भाषाओं ने ग्रीक भाषा के सहयोग से नई शब्दावली तैयार की हैं। विश्व हिन्दी पुरस्कार से सम्मानित डा. स्मेकेल हिन्दी की भूमि की अवहेलना देख व्यथित हो जाते हैं :

'पूछ रहा भारतवासी
स क पर घूमते हुए
दूसरे को टोक
ऐ भाई साहब !

पुराने मालिक की भाषा
कब तक लादते रहोगे?
देश भाषा पर अधिकार किये बिना?
कब तक??
आखिरी दम तक
भाई साहब !
आखिरी दम तक !'

कुछ स्नेह डालो

डा. भगीरथ ब ोले

दीप बुझते जा रहे हैं आरती के,
हो सके, मन-प्राण का कुछ स्नेह डालो !

सत्य का हर एक क्षण फिर रुग्ण-सा है,
आज वाणी खो रही अपने अमर स्वर,
कर्म अवलंबित हुआ बैसाखियों पर,
धुंध में दुबका हुआ है भोर सुंदर,
दृष्टि धूमिल, कान बहरे सारथी के,
साथियों, अपने जतन से रथ सम्हालो !
हो सके, मन-प्राण का कुछ स्नेह डालो !

विषमयी लहरें विसंगति के सहारे,
खोजती हैं सिद्धि के आयाम सारे,
पंथ पर विचलित हुए सद्भाव सबके,
कौन जलते प्रश्न का उत्तर विचारे,
स्वप्न हैं विकलांग सारे इस सदी के,
भाव अपने हर तमाशे से बचा लो !
हो सके, मन-प्राण का कुछ स्नेह डालो !

भूल कर व्यापार, घर को देखना है,
झाँकना है शून्य के हर आवरण में,
कब तलक सिसकारियाँ बोझिल करेंगी,
एक गति लानी प ेगी आचरण में,
ये चुनौती के चरण हैं भारती के,
फिर नये दायित्व हाथों में उठा लो !
हो सके, मन-प्राण का कुछ स्नेह डालो !

पापा गूँगे नहीं थे

बनाफर चन्द्र

माँ से शादी के बाद पापा अनमने-से रहने लगे थे। गुमसुम और चुपचाप। जहाँ भी होते कुछ सोचते रहते। कोई कुछ कहता तो हाँ-हूँ करके रह जाते। माँ खाना परोस देती तो खा लेते। डब्बा लगा देती तो लेकर दफ्तर चले जाते। शाम को हारे-थके लौटते तो बिस्तर पर पसर जाते। माँ कुछ कहती या पूछती तो टुकुर-टुकुर उसका चेहरा ताकते रहते और चाय के लिए इशारा भर कर देते।

पापा की गोद में मैं पली थी। खेली-कूदी थी और ब ी हुई थी। भाइयों से कहीं ज्यादा वे मुझे स्नेह करते थे। किसी चीज़ के लिए कभी मना नहीं करते। रूपये-पैसे नहीं होने का रोना नहीं रोते। मेरे मुँह से किसी चीज़ के लिए बात निकली नहीं कि उसी दिन या फिर अगले दिन वह चीज़ हाजिर। जबकि उसी चीज़ के लिए भाई हफ्तों से रट लगाये रहते, फिर भी वह चीज़ उनके लिए नहीं आती। कभी पैसे नहीं होने का उनसे बहाना बना देते तो कभी डाँट कर चुप करा देते।

भाइयों को जो कुछ भी चाहना होता माँ से कहते। माँ फिर पापा से कहती। पापा उनकी फरमाइश सुनते-सुनते तंग आ जाते तो माँ पर बरस प ते - 'तुमने क्या मुझे बैंक समझ रखा है? घर के कितने खर्चे हैं। फालतू चीज़ लाने के लिए न मेरे पास पैसे हैं न समय। लौडों की फरमाइश दिनों-दिन बढ़ती जा रही है और तनख्वाह कम होती जा रही है। गणित लगाना तो तुम्हें आता नहीं कि मैं आँक े बताऊँ। पापा की बातों से माँ का चेहरा उतर जाता और भाईयों का थोब ा लटक जाता।

भाई लिखते-पढ़ते कम, खिलवा ज्यादा करते। जब तक घर में होते टी.वी. खोलकर बैठे रहते। बाहर होते तो स्कूल से ही सिनेमा-हॉल पहुँच जाते। छुट्टी के रोज दिन भर क्रिकेट खेलते और ल ते-झग ते रहते। लिखने-पढ़ने के लिए उनके पास समय ही नहीं होता कि वो अच्छे नम्बर लेकर आते और अच्छे नम्बरों से पास होते। उनका रिजल्ट देख पापा सिर पीट लेते। गुस्से में फनफनाने लगते। कभी-कभी तो उनके बाल पक कर दो-चार झाप भी खींच देते। गुस्से में उफनते हुए कहते - 'हरामखोरों, दिनों-दिन तुम लोगों की हरामखोरी बढ़ती जा रही है। लिखना है न पढ़ना, हर वक्त किसी न किसी चीज़ के लिए फरमाइश करते रहना, बस यही काम रह गया है तुम्हारा।'

भाई उन्हीं चीज़ों की माँग करते जो टी.वी. के विज्ञापनों या फिल्मों में देखते। अच्छा खाते, अच्छे कप े पहनते, शैम्पू से नहाते और खुशबूदार तेल बालों में डालकर हीरो बन के घूमते रहते। पापा का स्कूटर लेकर भी गायब हो जाते और पेट्रोल खत्म हो जाने पर चुपचाप लाकर घर के भीतर ख ा कर देते, ताकि पापा को पता न लग सके। ऐसा वो तब करते जब पापा घर के बाहर होते, या अपने कमरे में लिखने-पढ़ने में व्यस्त होते। कहीं जाने के लिए पापा जब स्कूटर उठाते तो खाली पाते। चीख कर गुस्से में माँ से पूछते -'मेरा स्कूटर कौन ले गया था?'

'मुझे क्या पता, मैं तो किचन में थी' माँ उसी लहज़े में जवाब देती जिस लहज़े में पापा पूछते। जबकि माँ को सब पता होता। भाइयों को वो नीचे से ऊपर तक देखते फिर जहाँ जाना होता, वहाँ पैदल निकल जाते या साइकिल उठा लेते। पेट्रोल और पैसे बचाने के लिए पापा हफ्तों साइकिल से दफ्तर जाते और आते। और अंत में पाते कि बचत तो कुछ भी नहीं हुआ, उल्टे सौ- ेढ़ सौ रूपये जेब से और निकल गये। कभी-कभी हज़ार-पाँच सौ भी।

पापा की अनुपस्थिति में भाइयों की चाँदी हो जाती। पापा जब तक दफ्तर में रहते भाई स्कूटर का इस्तेमाल करते रहते। उनके आने से पहले उसी जगह, उसी स्थिति में लाकर ख ा कर देते जिस जगह और जिस स्थिति में पापा स्कूटर छो जाते। पापा स्कूटर उठाते तो कुछ न कुछ टूटा-फूटा मिलता। कभी ट्यूब पंचर मिलती तो कभी टायर फटे हुए।

भाइयों पर आधुनिकता हावी थी। टी.वी. या फिल्म में वो जो कुछ देखते, आचरण भी उसी तरह से करते। भाषा भी टी.वी. और फिल्म की ही बोलते। उन पर न डाँट का असर होता न फटकार का। मुश्किल से पापा साल या दो साल में अपने लिए एक शर्ट-पैन्ट सिलवा पाते और वही धो-धाकर पहनते रहते। जबकि भाई उनसे बिना पूछे अपने लिए दो-दो, तीन-तीन शर्ट-पैन्ट सिला

लेते। फैशन के हिसाब से हर छः महीने में उनके शर्ट-पैन्ट ओल्ड मॉडल हो जाते। पापा उनके कप े और सिलाई के पैसे दे-देकर परेशान। जितने पैसे और समय वो घूमने-फिरने, फिल्म देखने और फैशन पर खर्च कर दे रहे थे उसके पच्चीस प्रतिशत भी पढ़ाई पर खर्च करते तो पापा को न तकलीफ होती न गुस्सा आता और न इतने वो परेशान रहते। उनकी परेशानी और गुस्से का सबसे ब ा कारण था भाइयों की फिज़ूलखर्ची। अच्छा खाना, अच्छा पहनना, छूमना-फिरना, फिल्म देखना और आवारागर्दी करना, भाइयों ने इसे ही जीवन मान लिया था।

पापा की नज़र में ज़िन्दगी जीने का कुछ और अर्थ था और भाइयों की नज़र में कुछ और। दोनों के बीच इतना लम्बा फासला था कि एक जगह आकर ख ा होना और एक जैसा सोचना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन भी था। पापा घर में होते तो भाई घर के बाहर। पापा लिखने-पढ़ने में व्यस्त तो भाई टी.वी. देखने में। स क-चौराहे पर भाइयों के आँख-कान खुले होते और घर में बंद। पापा क्या कह रहे हैं, क्या पूछ रहे हैं, भाइयों के पास न जवाब होता न कुछ कहने-सुनने को। माँ भी भाइयों का ही साथ देती। वह भी पापा की बात इस कान सुनती और उस कान निकाल देती। भाइयों के प्रति उसका यह अंधा मोह था। माँ का यही मोह भाइयों के बिग ने में सहायक सिद्ध हो रहा था।

पापा भाइयों को पढ़ा-लिखा कर डाक्टर, इंजीनियर या कोई ब ा आदमी बनाना चाह रहे थे। ताकि समाज में उनकी इज़्ज़त व पूछ हो। ज़माने की रफ़्तार को वो जाने व समझें। समय के साथ चलें और खुद को बदलें। पापा को पता था कि आने वाला समय बहुत विकट और अति परिवर्तनशील होगा। उसकी रफ़्तार बहुत तेज होगी। आज जो कुछ दिखाई दे रहा है कल उसका स्वरूप बदला होगा। चीज़ों की पहचान बदल जाएगी। बदले हुए परिवेश और बदली हुई पहचान को जानने, समझने और परखने के लिए नई दृष्टि, नई भाषा, परिभाषा की जरूरत होगी। नापने और तौलने के लिए नए पैमाने की जरूरत प ेगी। यही सोच कर पापा ने भाइयों को मॉडल स्कूल में डाला था। उनकी कॉपी-किताबों, यूनिफार्म और रहन-सहन पर वे काफी पैसे खर्च करते थे। उनके लिए दो-दो ट्यूटर रखे थे। पापा उन्हें अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और भावनाओं के अनुरूप देखना चाहते थे।

चूँकि शुरू से मेरी रुचि अध्यापिका बनने की थी। अँग्रेजी से ऊब-सी होती थी। तीसरी कक्षा के बाद पापा ने जब यह देखा कि मैं अँग्रेजी नहीं पढ़ पाऊँगी तो मेरी रुचि देख कर उन्होंने मुझे हिंदी स्कूल में डाल दिया। मेरे लिए पहले भी कोई ट्यूटर नहीं था। पापा ही समय निकाल कर कभी-कभी पढ़ा दिया करते। इसके बावज़ूद मैं अच्छे नम्बरों से पास होती चली गई। और भाई डाँटने-फटकारने, सख्ती बरतने और दो-दो ट्यूटर रखने के बाद भी लटकते गये। कभी वार्षिक परीक्षा में लटक जाते तो कभी अर्द्ध-वार्षिक में।

वैसे पापा शांत और उदार प्रकृति और प्रवृत्ति के थे। झग ा-झंझट और हो-हल्ला उनको बिल्कुल पसंद नहीं था। घर में होते तो लगता ही नहीं था वो घर में हैं। उनका अधिकांश समय पढ़ने-लिखने में व्यतीत होता था। वो इस तरह लिखने-पढ़ने में व्यस्त रहते जैसे परीक्षा में भाइयों को नहीं उन्हें बैठना है। गुजरता हुआ समय उनके लिए परीक्षा देने के बराबर ही था। वो कहानी और कविता लिखते थे। दो-चार उपन्यास भी लिखे थे उन्होंने। कुछ उपन्यास प्रकाशित भी हुए थे। वो कहानी और कविता में समय और जीवन के यथार्थ को पक ने, चित्रित करने और परिभाषित करने की जी-तो कोशिश में लगे रहते। इसके बावज़ूद उन्हें लगता कि कुछ है, जो उनसे छूट जा रहा है। बार-बार उनकी सोच और दृष्टि से फिसल जा रहा है।

जितना वो जीवन से प्रेम करते थे उतना ही लेखन और अपने काम से भी। मनुष्य, प्रकृति और जीव-जन्तु से भी। उनके जीवन और लेखन में कोई फर्क नहीं था। जैसा जीवन जीते थे वैसा लिखते थे। न उनके जीवन में कहीं नकलीपन था न लेखन में बनावटीपन। जैसा लिखते थे वैसा दिखने की कोशिश भी करते। प्रेम को वो अपने जीवन और लेखन से भी ब ा मानते थे। देवता का दर्जा देते थे। वो कहते भी थे कि जीवन से अगर प्रेम को निकाल दिया जाए तो फिर वहाँ बचेगा क्या? सिर्फ़ शून्य। शून्य में हाथ-पैर मारते रहो, और लहूलुहान होते रहो। नीरस और बेजान जीवन जीते रहो। क्या मतलब ऐसी ज़िन्दगी जीने से जिसमें प्रेम न हो। नफरत ही नफरत हो, पी ा ही पी ा हो, दुख ही दुख हो। जीवन में जितना वो प्रेम को महत्व देते थे, उतना ही जीवन संघर्ष को

भी। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, ऐसा वो कहते थे। जो प्रेम नहीं कर सकता वो क्रांति भी नहीं कर सकता। संघर्ष भी नहीं कर सकता। ऐसा उनका मानना था।

पापा जो रचते थे उसमें जीवन होता था, प्रेम होता था, संघर्ष होता था। मुझे याद है, जनवादी साहित्य से जब प्रेम शब्द ख़ारिज कर दिया गया था। उस वक्त पापा ने एक कहानी लिखी थी। वह कहानी एक दैनिक में छपी थी। मैंने उसे पढ़ा था और पढ़ कर दंग रह गई थी कि पापा के पास प्रेम का इतना सूक्ष्म और विशुद्ध रूप पक ने की नज़रिया कहाँ से आ गई? कहानी की भाषा, शिल्प और कथ्य बिल्कुल नये ढ़ंग से गढ़े गये थे। उस वक्त मैं बी.ए. फाइनल में थी और कविता में रुचि लेने लगी थी। पापा जो भी लिखते, कविता या कहानी, मैं उन्हें बहुत ध्यान से पढ़ती थी। काफी गहराई में उतर कर सोचती थी। और मन ही मन पापा की तारीफ भी करती थी।

पापा के कामों की तारीफ तो मैं छुटपन से ही करती रही थी। आज भी करती हूँ। क्योंकि शुरू से ही पापा मुझे एक चमत्कारी पुरुष दिखते रहे थे। क्या यह कम चमत्कार की बात है कि वो गाँव की अँधेरी दुनिया में पैदा हुए, अभावों में जी कर जैसे-तैसे मैट्रिक किया। जैसे-तैसे नौकरी पाई। कई बार जान जोखिम में डाली। जीवन के भयावह और भयानक बीह पार करके कविता, कहानी और उपन्यास तक आये। दूसरा कोई होता तो कब का मर-खप गया होता। या अभावों से तंग आकर आत्महत्या कर लेता। पापा के जीवन में कुछ ऐसे भी बुरे क्षण आये जहाँ पहुँच कर आदमी आत्महत्या ही करता है। लेकिन पापा ने बहुत धैर्य और हिम्मत के साथ बुरे क्षणों का मुकाबला किया। कविता और कहानी को अभिव्यक्ति दी, दिशा दी और जीवन जीने का एक नया सलीका ढूँढ़ा।

पापा के जीवन संघर्षों का एक लम्बा दौर है। हर वक्त वो इस कठिन दौर से गुज़रते रहे थे। एक विकट जीवन जीते रहे थे। उनके जीवन के इन सभी सच के साथ यह भी सच है कि उनका सबसे ज्यादा विरोध अपने ही घर में हुआ था। पापा की प्रेम कहानी जो दैनिक में छपी थी माँ ने उसे पापा के जीवन का सच मान लिया था। घर में तूफान ख ा कर दिया था। तीन महीने तक पापा और माँ के निजी सम्बंधों में क वाहट का जहर घुलता रहा था। पापा जितना समझाने और मनाने की कोशिश कतरे माँ उतना ही ज्यादा उख जाती। वह कहानी को सिर्फ़ कहानी मानने के लिए कतई तैयार नहीं थी। पापा के जीवन के सच से जो कर देख रही थी। पापा उस वक्त मानसिक रूप से इतने परेशान थे कि तीन महीने लिखना-पढ़ना तक छो दिया था। उनके भीतर जो संघर्ष चल रहा था मैं बहुत करीब से महसूस रही थी। मैं सोच रही थी कि पापा के जीवन का शायद यही अंत हो लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस आघात और लांछन को भी पापा सह गये।

कभी-कभी पापा के बारे में बहुत गम्भीरतापूर्वक मैं सोचती कि क्या पापा सिर्फ़ सब कुछ सहने के लिए पैदा हुए हैं या कुछ कहने के लिए भी? उनकी सहनशीलता और उदारता से मुझे कभी-कभी खीझ होने लगती। कोई उन्हें ठग या लूट कर चला जाता तब भी चुप। सहनशीलता और उदारता की भी एक सीमा होती है। लेकिन पापा की उदारता और सहनशीलता के आगे कोई सीमा ही नहीं थी।

लेखक या गैर लेखक मिलाकर पापा के दोस्त हजारों में थे। और वो पापा के ईमानदारी के कायल थे। गोष्ठी या बहसों में रेखांकित भी करते थे। कहने या सुनने का पापा के पास अपना एक अलग ही अंदाज़ था। उनके इस अंदाज़ को पक ने के लिए दोस्तों ने बहुत कोशिश की लेकिन पक नहीं पाये। गाँव से शहर तक के पापा के पास इतने सारे अनुभव थे कि जब वो कविता या कहानी में अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करते तो वो रचना एक अलग ढ़ंग की मौलिकता लिए होती। जीवन की घटनाओं और संघर्षों को लिपिबद्ध करने की पापा की अपनी एक अलग शैली थी।

पापा दफ्तर में होते तो कर्मचारी दोस्तों में घिरे होते, घर में होते तो लेखक और कवि दोस्तों के बीच। घर के बाहर वाले कमरे में अक्सर शाम को गोष्ठियाँ जमती थीं। कभी किसी का कविता पाठ होता तो कभी कहानी पाठ। किसी मुद्दे पर बहस छि जाती तो देर रात तक वह बहस रुकने का नाम नहीं लेती। उधर बहस जारी रहती और इधर माँ झनक-पटक करती रहती। भुनभुनाती रहती, ब ब ाती रहती। माँ को यह सब पसंद नहीं था। वह नहीं चाहती कि देर रात तक घर में हल्ला-गुल्ला होता रहे। लिखना-पढ़ना अकेले भी हो सकता है, फिर यह ल ने-झग ने और गप-शप का क्या मतलब? गोष्ठी और साहित्यिक बहसों को माँ गप और भ ास की संज्ञा देती थी। वह साहित्यिक समझ से परे थी। इसलिए ऐसा सोचती थी।

माँ को सबसे ज्यादा चिढ़ शराब से थी। वह किसी शराबी या शराब पीते लोगों को देखना बिल्कुल पसंद नहीं करती थी। शराब का नाम सुनते ही उसका चेहरा गुस्से से लाल हो जाता। लगता कि फट कर बाहर आ जायेगा। पापा शराब पीने के आदी नहीं थे। पर दोस्तों के साथ कभी-कभार पी लेते थे। वह भी अपने ही घर में। उनकी गोष्ठी जमी होती या बहस चल रही होती, उसी बीच चुपके से कोई दोस्त जाता और इँगलिश बोतल लेकर आ जाता। बहुत देर तक यह पता ही नहीं चल पाता कि कमरे में बहस चल रही है या शराब पी जा रही है। शराब का भभका माँ की नाक में घुसता तो उसकी नाक फनफनाने लगती। 'दोस्तों के साथ गप चल रहा है या शराब का दौर? लोगों को जाने दो, फिर खबर लेती हूँ उनकी' माँ कहती और गुस्से में उबलने लगती।

शराब के सरूर के साथ बहस तीखी से तीखी होती चली जाती और अंत झग ` या तू. .तू. . मैं. .मैं. .से होता। पापा अपने कमरे से निकल कर खाने की मेज पर आते तो माँ सामने सींग तान कर ख ी हो जाती। 'अजीब स्थिति है, आधे से अधिक दिमाग तो दोस्त चाट गये, थो ा बहुत जो बचा है वह तुम चाट रही हो।' माँ से पापा कहते और थो ा-बहुत खा कर अपने बिस्तर पर आ जाते। उस रात पापा सो नहीं पाते। कुछ सोचते रहते और करवट बदलते रहते। सुबह उनकी आँखें लाल और सूजी हुई मिलतीं। मानसिक तनाव और थकान दूर करने के लिए पापा कभी-कभी पीते थे। यह बात मैं अच्छी तरह जानती थी। इसलिए मैं उन्हें न टोकती थी न कुछ कहती थी। लेकिन माँ के पास इतनी समझ नहीं थी कि पापा की तकलीफों को वह महसूस कर सके। उनकी भावनाओं को समझ सके। हर रोग का उसके पास एक ही निदान था - ल ना। ल कर अपनी बात मनवाने में वह अपना ब प्पन समझती थी। जबकि अपनी हरकतों और ल ाई-झग ों से पापा की नज़र में बहुत छोटी हो जाती थी।

मैं बी.ए. फाइनल कर गई थी। भाई अभी भी मैट्रिक में ही लटके हुए थे, जबकि मैं बीच वाली थी। एक से ेढ़-दो साल छोटी और दूसरे से ेढ़-दो साल ब ी। उनकी आवारागर्दी और आधुनिकता पहले से बढ़ गई थी। उनकी माँगें और हरकतें कुछ इस तरह की होने लगी थीं कि पापा को भीतर तक हिला देतीं। उनकी नाकामयाबी और आवारागर्दी से पापा काफी दुखी और खिन्न थे। उनके भविष्य को लेकर जितना वो चिन्तित थे भाई उनके पासंग के बराबर भी चिन्ता करते तो भी वो कुछ न कुछ कर जाते। समय हाथ से फिसला जा रहा था और भाइयों के चेहरे पर तनिक भी इसका मलाल नहीं था। वो खेलने-कूदने, घूमने-फिरने और फिल्म टी.वी. देखने में मस्त थे। अभी उनकी उम्र बीस और चौबीस की थी। चाहते तो बहुत कुछ कर सकते थे। बहुत आगे तक जा सकते थे। पर बहुत आगे जाने और बहुत कुछ करने के बजाये अब वो इश्क फरमाने लगे थे। पापा की यह सबसे ब ी चिन्ता थी।

पापा की चिन्ताओं में यह एक और चिंता आ जु ी थी। नादान बेटों के इश्क और मुहब्बत की चिंता। कहीं वो कुछ गलत न कर बैठें, यह आशंका पापा को बराबर बनी रहती। भाइयों के बारे में सोचते-सोचते कभी-कभी वो मुझ पर भी शक की नज़र डाल देते। तब मैं बौखला जाती। पापा पर गुस्सा भी आता और तरस भी। पहले कभी-कभी गोष्ठियों या दोस्तों के साथ बातचीत में उनकी ठहाकेदार हँसी सुनाई भी प जाती थी। पर अब हँसना ही भूल गये थे। कभी-कभार हँसते भी तो लगता कि उधार ली हुई हँसी हँस रहे हैं। या फिर यह दिखाने के लिए हँस रहे हैं कि अभी भी वो जिन्दा हैं। और उसी तरह जी रहे हैं जैसे पहले कभी जिया करते थे।

उनके पहले और अब के जीने में काफी फ़र्क आ गया था। वह फ़र्क साफ नज़र आ रहा था। घर में गोष्ठियाँ होना कम हो गई थीं। और बहसबाजी भी। उनका शराब पीना तो एक तरह से छूट ही गया था। कभी-कभी पीते भी थे तो किसी दोस्त के घर एक-दो पैग ले लेते, ताकि नशे में उनके पैर न ल ख ायें और घर पहुँचते-पहुँचते नशा भी उतर जाये। हाँ, लिखना-पढ़ना पहले से उनका जरूर बढ़ गया था। अपनी दुख, तकलीफ और चिन्ताओं को भ्रम में डालने के लिए शायद वो ऐसा कर रहे थे। या फिर, लेखन के प्रति अपने आप को अब वह पूरी तरह समर्पित कर चुके थे। मेरे लिए यह बात एक पहेली जैसी थी। कोई लेखक अपने आप को गलाने पर इस तरह उतारू हो जाता है कि हँसना-बोलना भी भूल जाये? मैं इस बात को नहीं मानती। पापा ज़रूर किसी बात या गम-दुख को लेकर भीतर-भीतर घुलते रहे थे। वैसे भी वो अपनी दुख-तकलीफ किसी को बहुत कम ही बताते थे।

पापा के लेखक-कवि दोस्तों ने उनको कई घाव दिये थे। कई ज़ख़्म दिये थे। कई बार उनको ज़मीन से उठा कर आकाश में उछाल दिया था और कई बार आकाश से ज़मीन पर पटक दिया था। उनके हाथ-पैर इतने मजबूत थे कि कई बार पटके जाने के बावजूद टूटे-फूटे नहीं। पापा से उनके दोस्त उनकी ज़मीन और उनका ज़मीर दोनों छीनना चाह रहे थे। सच बात तो यह है कि उनको साहित्य और लेखन से ही बेदखल करना चाह रहे थे। इसलिए कोई न कोई दाँव-पेंच उन पर आजमाते रहते थे। कभी-कभी लँग ी भी मार देते थे। जब उनके दाँव-पेंच उन पर कारगर साबित नहीं हो पाते तो सीधा हमला बोल देते। लेकिन पापा भी पता नहीं किस मिट्टी के बने थे कि अपने ऊपर एक खरोंच भी नहीं आने देते। इसके बावजूद पापा दोस्तों को दोस्त ही मानते रहे। दुश्मन की तरह उनके बारे में कभी नहीं सोचा। कभी मैं दोस्तों के व्यवहार को दुश्मन की तराज़ू पर रख कर तौलती तो पापा कहते - 'साहित्य के क्षेत्र में किसी से किसी की दुश्मनी नहीं होती, मतभेद होते हैं। असहमतियाँ होती हैं। हर कोई अपना पक्ष अपने ढ़ंग से रखना चाहता है तो इसमें हर्ज क्या है? कोई रोष में अपनी बात कहता है तो कोई शालीनता के साथ। असहमति और मतभेदों को दुश्मनी की संज्ञा देना मूर्खता है। यह तो वैचारिक टकराहट है। साहित्य के धरातल पर इस तरह की टकराहट तो होती ही रहती है। साहित्य के यह हित में है।'

****

अचानक मेरी शादी की बात चल निकली थी और पापा के चेहरे पर खुशी दौ गई थी। पापा फिर से हँसने-बोलने लगे थे। उनकी ठहाकेदार हँसी फिर से घर-आँगन में गूँजने लगी थी। माँ के चेहरे पर भी ख़ुशी थी। उसके भी हाव-भाव बदल गये थे। अब वह पापा से बहुत मुलायमियत लहज़े में लेन-देन और खर्चे की बात करने लगी थी। भाई जो अभी तक बेअक्ली की टोकरी लिए घूम रहे थे लगा कि एकाएक सयाने हो गये हैं। उन्हें अक्ल के सींग निकल आये हैं। वो इतने खुश थे कि जैसे मेरी नहीं, उनकी शादी हो रही है। पर, मेरी अक्ल गुम थी। मैं सोच नहीं पा रही थी कि एकाएक यह क्या हो गया? घर में शादी-वादी की यह बात कहाँ से चल निकली। कल पापा मुझे एम.ए. कराने की बात कर रहे थे और आज मेरी शादी का भूत उन पर कहाँ से सवार हो गया? सचमुच शादी हो गई तो मैं एम.ए. करने से रह जाऊँगी। फिर अध्यापिका बनने का सपना, सपना ही रह जायेगा।

'पापा शादी के पहले मैं एम.ए. करना चाहती हूँ। शादी के लिए अभी मना कर दीजिये' हिम्मत करके मैं पापा से बोल गई। माँ भी पापा के बगल में बैठी थी। माँ मुझे इस तरह घूर कर देखने लगी जैसे पहली बार देख रही हो।

'बेटा, बात बहुत आगे बढ़ गई है। देखा-देखी भी हो गया है। लेन-देन की बात भी तय हो गई है। सबसे ब ी बात तो यह है कि तुम दोनों की जो ी बहुत अच्छी है। पहली बार में ही सभी ने तुम्हें पसंद कर लिया। ऐसा बहुत कम होता है। ल का ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बाप के जूते घिस जाते हैं। घर मिलता है तो वर नहीं, वर मिलता है तो घर नहीं। मुझे तो घर बैठे-बैठे ही दोनों मिल गये। न कहीं जाना प ा न किसी के सामने गि गि ाना प ा। अब इस शुभ काम में बाधा मत डालो।'

थो ी देर सोचने के बाद पापा ने कहा तो फिर आगे कुछ कहने की मेरी हिम्मत नहीं हुई। घर और ल का मुझे भी पसंद था। इसलिए भी चुप हो गई। मैंने सोचा, मेरी शादी के बाद पापा के सिर से एक बहुत ब ा बोझ उतर जायेगा। उनका मन हल्का हो जायेगा। शायद भाइयों को भी आगे का रास्ता सूझ जाये। रहा सवाल एम.ए. करने का, तो प्राइवेट कर लूँगी।

शादी की बात हीरा आंटी ने चलाई थी। ल का उन्हीं के कुनबे का था। हीरा आंटी को पापा बहुत स्नेह करते थे। उनका घर अपना घर समझते थे। हीरा आंटी पापा से बहुत छोटी थीं। इसलिए पापा उन्हें बहुत स्नेह करते थे। हीरा आंटी और अंकल भी पापा का बहुत आदर करते थे। हीरा आंटी, अंकल और पापा के बीच बहुत नजदीकी और आत्मीय रिश्ते थे। हर दुख-सुख में पापा उनके साथ होते और वो पापा के। पापा घर में गर्व के साथ कहते - 'हीरा मेरे छोटे भाई की तरह है इसलिए मैं उससे इतना स्नेह करता हूँ और वो मुझे आदर देती है।'

हीरा आंटी थो ा चंचल और तेज-तर्राट थीं। पर दिल की बुरी नहीं थीं। जो कुछ कहना होता साफ-साफ लहज़े में मुँह पर कह देतीं। चाहे सामने वाला आत्महत्या ही क्यों न कर ले। एक बार उनका मुँह खुल जाता तो फिर जल्द बंद नहीं होता। वो साफ कहना और साफ सुनना पसंद करती

थीं। पर उनकी वह साफगोई कभी-कभी उनको ब ी मुसीबत में डाल देती। साफगोई और अपनी चंचलता के कारण हीरा आंटी किसी न किसी विवाद में फँसी हीं रहती।

हीरा आंटी का असल नाम बिमला था। पापा इसी नाम से उन्हें पुकारते थे। पर मैं उन्हें हीरा आंटी ही कहती थी। इस नाम में उनके गुणों की सार्थकता झलकती थी। सचमुच में वो हीरा थीं। जहाँ भी होतीं हीरा की तरह चमक बिखेरती रहतीं। उनका छरहरा बदन और गोरा रंग चमक बिखेरने के साथ-साथ टीस भी पैदा करते। कभी-कभी पापा उनकी ऊल-जलूल बातों से दुखी भी हो जाते। पर उन्हें कुछ कहते नहीं। ज़हर की तरह उनकी बातों को पी जाते। पापा को पता था कि थो ी देर वो ब ब ा लेती हैं फिर शांत हो जाती हैं। उनका मन साफ था इसलिए भी पापा हीरा आंटी से स्नेह करते थे। लेकिन उस वक्त उनका यह स्नेह उनके लिए भारी प जाता जब हीरा आंटी को लेकर माँ पापा को कुछ कह देतीं। तब पापा चुप और दुखी हो जाते। बहुत देर तक वो खिन्न रहते। पापा की भावनाओं को न हीरा आंटी समझ पातीं न माँ।

हीरा आंटी को मैं भी बहुत चाहती थी। वो मुझसे काफी घुली-मिली थीं। ब े प्यार से अपने घर बुलातीं, मीठी-मीठी बातें करतीं। कभी खाना खिलातीं तो कभी पकौ े छानतीं। खिलाने-पिलाने का हीरा आंटी को काफी शौक था। पापा को भी वो कुछ न कुछ खिलाती-पिलाती रहती थीं। मेहमान-नवाज़ी वो जानती थीं। जिस रोज हीरा आंटी पापा को प्यार से बोल देतीं उस रोज पापा दिन भर खुश नज़र आते। 'हीरा आंटी में ऐसा क्या है - पापा, जो उन्हें इतना चाहते हैं?' एक रोज पापा से मैंने पूछा तो वो मेरा मुँह ताकने लगे। ब े प्यार से मेरे सिर पर उन्होंने हाथ फेरा और कहा - 'इसमें जलने की क्या बात है? जितना स्नेह मैं तुम्हें करता हूँ उतना ही बिमला को भी। मन में गलत ख्याल मत लाया करो। वो थो ा तेज-तर्राट है, इसलिए बहुतों को बुरी लगती है। पर दिल की बुरी नहीं है।'

इसी हीरा आंटी ने मेरी शादी की बात चलाई थी। सगाई हो गई थी और शादी की तारीख भी पक्की हो गई थी। पर पापा के पास नगद के नाम पर एक फूटी कौ ी भी नहीं थी। अभी तक उन्होंने जितना भी कमाया था घर और हम लोगों पर खर्च कर दिया था। जब से उनकी नौकरी लगी थी तभी से घर वाले उन्हें चूसते रहे थे। जो भी कमाते थे माँ, पिता और भाइयों को दे देते थे। इसके बावजूद घर का कोई न कोई व्यक्ति उनके पास प ा ही रहता। एक जाता तो दूसरा आ जाता। दूसरा जाता तो तीसरा आ धमकता। इस तरह आने-जाने वालों का ताँता-सा लगा रहता। उनके खाने-पीने, रहने और आने-जाने की सारी व्यवस्था पापा को ही करनी प ती। पापा की जेब हर वक्त खाली रहती। घर के बँटवारे के बाद भी कई सालों तक यह सिलसिला जारी रहा था।

घर वालों के प्रति पापा ने कुछ ज्यादा ही मोह पाल रखा था। घर पर ब े पापा का बहुत ब ा परिवार था। पाँच ल के, दो ल कियाँ, दो-तीन पतोहू और कई नाती-पोते। पापा का दोहन वो इस तरह करते जैसे पापा संतानहीन हों। बँटवारे के बाद दादा-दादी के कहने पर पापा ने घर का अपना सब कुछ ब े पापा को दे दिया था। खेती की ज़मीन से लेकर रहने के लिए अपने हिस्से का मकान तक। इसके बदले पापा को क्या मिलता - ब े पापा का थो ा-सा प्यार, थो ा-सा स्नेह और कभी-कभी उलाहना भी। माँ कभी पापा से घर की ज़मीन-जायदाद के बारे में कुछ कहती तो पापा डाँट देते - 'ब े भइया के इतने ब े परिवार को भूखों मरने दूँ? लोग क्या कहेंगे?' पापा को अपनी कम, लोक-लाज और ब े पापा के परिवार की चिन्ता ज्यादा थी। उस वक्त हम भाई-बहन छोटे थे, पर इतने छोटे भी नहीं थे कि यह बात हमारी समझ से परे हो।

पापा को घर वालों ने तो नंगा किया ही था, उनसे कहीं ज्यादा नंगा उनके अपने बेटों ने किया था। वो अभी भी ढ़ंग से न लिख-पढ़ रहे न कुछ कर रहे थे। स्कूल की फीस पापा देते तो स्कूल में जमा करने के बजाये ऊँटपटाँग उ ा देते, फिल्म आदि देख लेते। पापा को दोबारा छः-छः महीने की इकट्ठी फीस भरनी प ती। भाइयों की बातें अब इतनी लच्छेदार होने लगी थी कि पापा तो दंग थे ही, मैं भी दंग थी। मेरी शादी को लेकर वो इतने उत्सुक थे कि अभी से ही उनका प्लान बन गया था कि शादी में कौन-कौनसे और किस-किस डिजाइन के सूट सिलवाएँगे। कौन-कौनसे जूते लेंगे, किस कम्पनी के और किस कट के।

शादी के टोटल खर्च ेढ़ लाख रुपये आ रहे थे। इसमें वर पक्ष की माँगें भी शामिल थीं। पापा के खाते में ेढ़ लाख क्या, ेढ़ हजार भी नहीं थे। जैसे-तैसे करके उन्होंने सगाई तो कर दी

थी लेकिन शादी में खरचने के लिए इतने रुपये लायें कहाँ से? अब उनके लिए यह सबसे ब ी चिन्ता थी। लेखकों के फक्क स्वाभाव और उदार प्रवृत्ति के बारे में अभी तक जो कुछ भी मैंने पढ़ा था वो सब पापा पर सच साबित हो रहा था। पापा ने पहले प्रकाशकों की जेबें टटोली, फिर उन दोस्तों की जो लम्बी-चौ ी डींग हाँका करते थे और हर वक्त अपने को माँज-चमका कर ऐसे रखते थे जैसे बहुत ब रईस खानदान के हों। एक-दो को छो के बाकी सब पापा के सामने नंगे ख थे। सबकी कलई उतर गई थी। और औकात सामने आ गई थी। पापा उन्हें क्या कहते, आखिर थे तो उन्हीं की बिरादरी के। पापा और उनमें इतना फर्क था कि पापा कभी डींग नहीं हाँकते थे, रईसी नहीं झा ते थे, न उनकी तरह अपने कुल-खानदान का बखान ही करते थे। पापा को अपनी औकात और हैसियत पता थी।

पापा मेरी शादी में जो कुछ भी देना और खर्चना चाह रहे थे, वह सिर्फ़ मेरे सुख के लिए। वो नहीं चाहते थे कि किसी चीज़ या किसी कमी को लेकर ससुराल के लोग मुझे टोकें। जिस स्नेह-प्यार से पापा ने मुझे पाला-पोसा और लिखाया-पढ़ाया था, उसी स्नेह-प्यार से वो मुझे विदा भी करना चाह रहे थे। वरना हीरा आंटी के कितना भी कहने के बावज़ूद उतने ब घर में शादी के लिए राज़ी नहीं होते। राजी होते भी तो औकात के बाहर नहीं जाते। ढ़ लाख रुपये उनके लिए एक बहुत ब ी रकम थी। उनकी उम्र से भी ब ी। पर उन्हें विश्वास था कि कहीं न कहीं से जुटा लेंगे। उनका यही विश्वास पूरे घर को चिन्ता-मुक्त किये हुए था। पर वो खुद चिन्तित थे। अपनी चिन्ता को हँसी और मुस्कान के बीच इस तरह छुपाये रहते कि आने-जाने, मिलने-जुलने वालों को आभास तक नहीं होता।

पापा ने चुपके से अपने हिस्से की घर की ज़मीन और मकान बेच दिया। उससे भी शादी का खर्च पूरा नहीं हुआ तो सी.पी.एफ. फंड निकाल लिया। इसके बावज़ूद शादी के बाद पच्चीस हजार रुपये के ऊपर से और कर्जदार हो गये। मैं विदा हो गई थी। पापा अपना सब कुछ लुटा कर भी खुश थे। और ससुराल पक्ष, सब कुछ लूटकर भी दरवाज़े पर नाराज़ ख ा था।

मेरे विदा होने के बाद पापा के भीतर बहुत कुछ टूट गया था। बहुत कुछ दरक गया था। बहुत कुछ मसक गया था। और बहुत कुछ टूटने और बिखरने के क्रम में था। पता नहीं ऐसा क्या कुछ घटा था कि हीरा आंटी और पापा के आत्मीय सम्बंधों में एक बहुत ब ी दरार आ गई थी। पापा ने इस दरार को पाटने की जितनी कोशिश की थी वह दरार कम होने के बजाये और चौ ी ही हुई थी। पापा की भावनाओं को न हीरा आंटी समझ पा रही थीं, न अंकल समझ पा रहे थे, न माँ समझ पा रही थी। सभी उन्हें गलत साबित करने में लगे हुए थे।

माँ तो एक तरह से जैसे पागल ही हो गई थी। बार-बार वह अचेत हो जा रही थी। जहाँ भी होती आँखों में आँसू लिए होती। रोते और जागते रहने से उसकी आँखें सूज कर बाहर निकल आई थीं। लगता ही नहीं था कि माँ की आँखें हैं। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि जो आँखें मेरी निगरानी करती रही हैं, रास्ता दिखाती रही हैं, वही आँखें एक रोज पहचान में नहीं आएँगी।

शादी के महीने भर बाद मैं पापा के घर आई थी। पापा को गुमसुम और माँ की बाहर निकल आईं आँखें देख कर मैं दंग थी। माँ के लिए मैं पहली और आखिरी बेटी थी। इसलिए मेरे जाने का उसे इतना ब ा सदमा पहुँचा था कि वह महीने भर रोती रही थी। लेकिन पापा तो इतने कमजोर नहीं थे? वो क्यों गुमसुम और चुप थे? क्या हो गया था उनको कि घर में उनकी मौजूदगी का अहसास तक नहीं हो पा रहा था। उन्हें मेरे जाने का गम था या किसी बात का सदमा था। मैं समझ नहीं पा रही थी। पर इतना जरूर था कि वो भीतर ही भीतर घुट रहे थे। उनके भीतर कुछ पक रहा था। कुछ खदक रहा था।

'आप चुप क्यों हैं पापा? कुछ बोलते क्यों नहीं? आपकी चुप्पी मुझे खाये जा रही है। आप कुछ बोलिये, बोलिये नहीं तो मैं. . . .' आगे कहते-कहते मैं रुक गई थी। मेरी आँखें भर आई थीं। और पापा मुझे एकटक देखे जा रहे थे।

बूढ़ा पे

डॉ. अरविन्द ठाकुर

क्यों ढ़ह गया बूढ़ा पे
बरगद का
शायद वो भी खो चुका था
अपना अस्तित्व
जमीं से अलग होकर।
वो तो पे था भुला दिया गया
लेकिन उस इंसान का क्या
जिसकी छाया में पनपी हैं
उसकी नस्लें।
फिर क्यों वो अलग-थलग है
आज अपने अपनों से
और फिर क्यों जूझ रहा है
अस्तित्व को बचाने के लिए।
कुछ अरसे पहले पे हरा था
और वो इंसान जवान
आज भी याद है उसको
बचपन की आँख-मिचौली
इसकी गोद के आस-पास
माँ का डाँटना और
बरगद की टहनियों में छुप जाना।
मानों एक दोस्त, हमदर्द, एक सहारा
वो पक लेता था
टूटी डोर पतंग की अपने हाथों
और उकसाता था उस बच्चे को
बाँहें फैला कर
अपनी गोद में आ जाने को।
एक वो दिन था
जब उस पे की शीतल छाँव तले
हर कोई चारपाई फैलाये
रहना चाहता था प ा।
उस भौतिकता, वास्तविकता की
धूप से बचने के लिए
हर कोई दौ प ता था
इस बरगद की सुरक्षित
निर्भय छाँव की तरफ।
आँगन में विराजमान
वह कितनों को झुलाता था
कितनों को सहलाता था
और वंश को बढ़ाता था
इसलिए समय पर खाद पाता था
आज वही बच्चा
जवान होकर बूढ़ा हो गया है
अपने पोते संग बरगद के
चबूतरे पर बैठ कर
ताकता रहता है इन
सूखी, माँस-रहित हड्डियों-सी
फैली टहनियों को।
अब बरगद की ज ें भी लगती हैं ऐसे
मानों जमीन से बाहर दिख रही है
ठीक वैसे जैसे
बूढ़े की उघ ी हुई कमीज़ से
उसकी उदासी, मायूसी झाँक रही हो।
परिवार का हर सदस्य
यही चाहता है कि कब
ये आँगन का कंकाल गिरे
अब इस ठूँठ की उपस्थिति
उनको सताने लगी है
कि कहीं इस बूढ़े संग खेल कर
कोई बच्चा ला ला बन कर
बिग न जाये।
सभी मन ही मन चाहते हैं
लेकिन कोई कुल्हा ी चलाये भी तो कैसे
लोग क्या कहेंगे?
पुत्र जिसे चलना सिखाया
और जब उसे चलना आया तो
छो कर उँगली दौ दिया
उसे क्या पता कि अब बारी
बापू की है उसकी उँगली पक ने की।
इसलिए आज बेटा-बहू सभी
इंतजार कर रहे हैं उस आँधी का
कि कब आये और
घर में जलते इस बिना तेल के
दीये को बुझाये
आँगन के कंकाल को
जमीन पर गिराये।
फिर इनका जीवन मुक्त होगा
बिना किसी रोक-टोक के ये उ ेंगे
यहाँ-वहाँ।
बूढ़ा बरगद और बूढ़ा इंसान
दोनों ही
इस जीवन प्रवाह में
तटस्थ हो चुके हैं
आज दोनों ही
अकेले हैं, हताश हैं
झेल रहे हैं
अपनों की ही बेरुखी। ********

अतीत के झरोखे में : वैशाली

अशोक प्रियदर्शी

अतीत की गौरवशाली वैशाली लुप्तप्राय-सी हो गयी थी। सर्वप्रथम सन् १८३४ई. में श्री स्टीवेंशन ने वैशाली की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहा। डॉ. कनिंघम ने १८८१ई. में बसाढ़ क्षेत्र की खुदाई शुरू कराई और उसने सिद्ध किया कि बसाढ़ क्षेत्र ही प्राचीन व गौरवशाली वैशाली रही है। सन् १९०३-४ में डॉ. ब्लाश और सन् १९१३-१४ में डॉ. स्पूनर ने इस क्षेत्र की खुदाई कराई। आजादी के बाद यहाँ की खुदाई पुरातत्व विभाग द्वारा की गयी। खुदाई से प्राप्त सिक्के, मिट्टी के बर्तन, मूर्त्तियाँ, ईंट, मुहरें आदि से इतिहासकारों ने बताया है कि यह क्षेत्र ५००ई. पूर्व में भी परिसम्पन्न था। यहाँ की खुदाई से प्राप्त अनमोल रत्नों से गुप्तकाल और मौर्यकाल की भी पहचान की गयी है।

पवित्र गंगा नदी के उत्तर में स्थित है वर्त्तमान वैशाली किला। यह क्षेत्र कभी गणतान्त्रिक व्यवस्था के लिए विश्व विख्यात रहा है। तथागत ने इस शासन व्यवस्था के आधार पर बौद्ध संघ की स्थापना की थी। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकंर वर्द्धमान महावीर का जन्म वैशाली के ही कुण्डग्राम में हुआ था। बौद्ध धर्म के त्रिपिटक में यह उल्लेख किया गया है कि भगवान बुद्ध जब वैशाली की अंतिम यात्रा करते हुए कुशीनारा की ओर प्रस्थान कर रहे थे तब उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था - 'आनंद, वैशाली रमणीय है, उसका गौतमक चैत्य रमणीय है, चापाल चैत्य रमणीय है, बहुपुत्रक चैत्य रमणीय है, सारनदद चैत्य रमणीय है।'

वैशाली के नामकरण के सम्बंध में अनेक बातें कही जाती हैं। एक मत है कि प्रचीन काल में यह स्थान 'बसाढ़ का गढ़' कहा जाता था। इक्ष्वाकु वंश के नौ राजाओं का यहाँ शासन रहा है। उन्हीं नौ राजाओं में एक था राजा विशाल। इसी के नाम पर यह स्थान 'विशालापुरी' अथवा 'विशाल का गढ़' कहलाने लगा। दूसरे विद्वानों का मत है कि इस स्थान को तीन बार विशाल बनाने का प्रयास किया गया जिसके कारण यह वैशाली कहा जाने लगा।

वाल्मीकि रामायण में उल्लेख किया गया है कि सीता स्वयंवर में जनकपुर जाते हुए राम, लक्ष्मण एवं विश्वामित्र एक रात यहाँ ठहरे थे। वहीं विश्वामित्र ने राम को वैशाली की गौरवगाथा सुनाते हुए कहा था - 'हे राम, यह वही भूमि है जहाँ देवता और दैत्यों ने मिल कर समुद्र मंथन की योजना बनाई थी। यह वही स्थल है जहां इन्द्र ने निवास किया था। यहीं परम धार्मिक इक्ष्वाकु के वंशज, विशाल ने अपनी राजधानी बनाई थी।'

तथागत को वैशाली बहुत प्रिय थी। बोध गया प्रस्थान करते हुए वे वैशाली से होकर गुजरे थे। यहाँ के कूटागारशाला में उनकी पवित्र वाणी गूँजी थी। विनय सम्बन्धी अनेक निमयों का निर्धारण उन्होंने यहीं किया था। भिक्षुणी संघ की स्थापना की।

प्रचीन काल में वैशाली एक शक्तिशाली गणराज्य कहलाता था। सुरक्षा की दृष्टि से यह क्षेत्र तीन मोटी दीवारों से घिरा था जिसके बीच अनगिनत अट्टालिकायें और सरोवर थे। सरोवर कमल के पुष्पों से भरा रहता था। मंगल अभिषेक पुष्करिणी एक ऐसा पवित्र सरोवर था जिसके जल से राजाओं का अभिषेक किया जाता था। पशु-पक्षियों एवं अन्य दूसरे नागरिकों द्वारा इस पवित्र सरोवर का जल दूषित न हो सके इसके लिए सरोवर के ऊपर लोहे की जाली लगी होती थी।

पवित्र गंगा का आधा भाग मगध के हिस्से का था और दूसरा आधा भाग वैशाली के हिस्से का। नदी तट से आने वाले विदेशी व्यापारियों का लाभ जितना वैशाली के नागरिकों को मिलता था उतना मगध के व्यापारी नहीं ले पाते थे। इसका प्रमुख कारण था प्राचीन जनपद वज्जी की राजधानी वैशाली का गंगा के निकट अवस्थित होना। मगध नरेश बिम्बसार ने आक्रमण कर वैशाली को जीतने का प्रयास किया था लेकिन उसकी पराजय हुई। मगध और वैशाली के सम्बन्ध भविष्य में मधुर बने रहें इसी उद्देश्य से बिम्बसार ने वैशाली के लिच्छवि नायक चेटक की कन्या चेल्लना से शादी की। इसी चेल्लना का पुत्र था मगध नरेश पितृहन्ता अजातशत्रु।

अजातशत्रु ने भी वैशाली विजय के लिए कई बार आक्रमण किया। लेकिन उसे निराशा हाथ लगी। उसने अपने मंत्री वर्षकार को भगवान बुद्ध की शरण में भेजा। उस समय तथागत गृद्धकूट पर्वत पर शिष्यों को उपदेश दे रहे थे। वर्षकार के उपस्थित होने का कारण जान कर तथागत को दुख हुआ। फिर भी उन्होंने आनन्द को सम्बोधित करते हुए अपनी प्रिय वैशाली का वर्णन कुछ इस प्रकार किया - 'आनंद, जब तक वज्जीगण

अपनी सभा करते रहेंगे, उनके जुटाव भरपूर होते रहेंगे, जब तक वे एक राय होकर उठते-बैठते रहेंगे, एक राय होकर सब काम करते रहेंगे, लोगों की राय जाने बिना कोई कानून लागू नहीं करेंगे, अपने गुरुजनों का आदर करते रहेंगे, जब तक कुलकुमारियों का सम्मान करते रहेंगे, जब तक वे अपने चैत्यों, देवालयों को मानते पूजते रहेंगे और उनकी सुरक्षा करते रहेंगे तब तक उनकी प्रगति होती रहेगी, अवनति नहीं।' तथागत का संकेत पाकर, वर्षकार ने वैशाली के नागरिकों के बीच फूट का बीज बोया। वहाँ के लोगों के बीच दरार प ने लगी। बौद्ध साहित्य के अनुसार तथागत के निर्वाण के तीन वर्षों बाद से वैशाली का पतन प्रारम्भ होने लगा।

बौद्ध मतावलम्बियों के लिए आठ स्थानों को 'महास्थान' की संज्ञा दी गयी है। यह वे स्थान रहे हैं जो तथागत के जीवन से सम्बंधित रहे हैं अथवा वहाँ तथागत द्वारा कोई चमत्कारी कार्य हुए हैं। वैशाली उनमें से एक है। तथागत जब वैशाली के आम्रकुंज में भिक्षुओं को उपदेश दे रहे थे तब उनके उपदेश को, उस कुंज में रहने वाले कुछ बंदरों ने भी सुना था। उनकी अमृतवाणी से प्रभावित होकर उन बंदरों ने भगवान बुद्ध को भेंट स्वरूप एक मधु से भरा पात्र दिया था।

बोध गया में पीपल की छाया में दिव्यज्ञान प्राप्ति के बाद तथागत राजगृह के वेणुवन में भिक्षुओं को धर्मोपदेश दे रहे थे। उस समय वैशाली में महामारी फैली थी। पानी के अभाव में खेत सूख गये। त्राहिमाम का दृश्य फैल गया था। पूरा राज्य परेशान था। वज्जी संघ को तथागत के प्रति ऐसा विश्वास बन गया था कि वे जहाँ भी ठहरते हैं, दैविक संकट दूर हो जाते हैं। वज्जी संघ के 'महाली' को तथागत के बुलाने की जिम्मेदारी सौंपी गई। चूँकि उस समय तथागत, मगध नरेश बिम्बसार के अतिथि थे इसलिए महाली ने मगध नरेश से तथागत को वैशाली ले जाने की अनुमति माँगी। मगध नरेश, वैशाली की दुर्दशा का हाल सुन चिन्तित हुए और उन्होंने तथागत को वैशाली जाने की अनुमति दे दी।

सम्यक सम्बुद्ध होने के बाद तथागत की यह पहली वैशाली यात्रा थी। वैशाली के नागरिकों ने तथागत के स्वागत की पूरी तैयारी की थी। पूरे मार्ग में पुष्प बिछाये गये थे। स्थान-स्थान पर ब`-ब` तोरण द्वार लगाये गये। मार्ग के दोनों किनारे मंगल-कलश रखे गये। भिक्षुओं के ठहरने की जगह-जगह व्यवस्था की गई थी। आठ रंग-बिरंगे परिधान में घो` पर सवार राज्य के अधिकारी, गंगा तट पर उनकी आगवानी के लिए मौजूद थे। काफी लोग भेरी, मृदंग, शंख आदि बजाते हुए वातावरण को शुभ बनाने में व्यस्त थे। बौद्ध साहित्य में उल्लेख किया गया है कि ज्योंही तथागत की सवारी गंगा के तट पर लगी त्योंही आकाश में बादल छा गये और घनघोर वर्षा से वैशाली की धरती तर हो गयी। वैशाली की मंगलकामना के उद्देश्य से तथागत ने रात भर पूरे वैशाली क्षेत्र का भ्रमण करते हुये, मंत्रोच्चार किया। फिर अपने भिक्षु संघ के साथ कूटागारशाला में आकर विश्राम किया। लिच्छवियों ने वह कूटागारशाला, भिक्षु संघ को भेंट की। वैशाली में उत्पन्न महामारी जैसा दुर्भिक्ष समाप्त हो गया।

अपनी अंतिम वैशाली यात्रा के दौरान तथागत वैशाली के आम्रवन में ठहरे थे। वैशाली की राजनर्तकी अम्बपाली ने भिक्षु संघ के साथ तथागत को, अपने प्रासाद में भोजन के लिए आमंत्रित किया। तथागत ने अम्बपाली का आतिथ्य स्वीकार कर लिया। उनकी अमृतवाणी से प्रभावित होकर अम्बपाली ने प्रब्रजित होने की इच्छा प्रकट की। इससे पूर्व तथागत अपनी मौसी महा प्रजापति गौतमी को पाँच सौ नारियों के साथ वैशाली में ही दीक्षित कर चुके थे। अम्बपाली के अनुरोध को तथागत अस्वीकार नहीं कर सके। वैशाली की कुछ अन्य नारियों के साथ अम्बपाली, बिमला, रोहिणी, जयन्ती, वाशिष्टी को भी तथागत ने दीक्षा दी।

वैशाली की इसी पुण्यभूमि पर तथागत ने अपने भिक्षुओं के समक्ष घोषणा की थी कि आज से तीन महीने बाद वे निर्वाण लाभ करेंगे। भिक्षुगण उनकी ऐसी उद्घोषणा सुन कर चिन्तित हो गये। तथागत मुस्कुराये। भिक्षुओं के मन की बातें जान लीं। उन्होंने भिक्षुओं को समझाते हुए कहा - 'अप्प दीपो भव' अर्थात् अपने दीपक की लौ तुम स्वयं बनो।

वैशाली से कुशीनारा की ओर प्रस्थान करते समय तथागत को वहाँ के लिच्छवियों ने काफी दूर तक साथ दिया। तथागत बार-बार उन्हें लौटाने का प्रयास करते रहे लेकिन नागरिकों का उनके प्रति प्रेम भाव बना था। तथागत ने अपना भिक्षापात्र उन नागरिकों को भेंट स्वरूप दिया। भिक्षापात्र ग्रहण कर नागरिक वहीं रुक गये। बौद्ध साहित्य में उल्लेख है कि तथागत जब वैशाली से काफी दूर हुए तब वे एक बार रुक गये। फिर हाथी की तरह अपना पूरा शरीर घुमाकर उन्होंने वैशाली के दर्शन किये थे। आनन्द को सम्बोधित करते हुए तथागत ने कहा था - 'आनंद, तथागत का यह अंतिम वैशाली दर्शन है।' फिर बढ़ चले कुशीनारा की ओर।

वैशाख पूर्णिमा। यही वह पुण्य दिन था जब सिद्धार्थ का जन्म हुआ था, बोधिवृक्ष की शीतल छाया में ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और इसी रोज़ दो शाल वृक्षों के बीच उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। तथागत के अस्थि-अवशेष का एक भाग वैशाली के नागरिकों को भी मिला।

तथागत ज्ञान प्राप्ति के बाद मौखिक रूप से भिक्षुओं को धर्मोपदेश देते रहे। भिक्षुगण उनके बताये मार्गों का अनुसरण करते रहे। लेकिन उनकी निर्वाण प्राप्ति के कुछ क्षण बाद ही भिक्षुओं ने उनके मौखिक उपदेश का अर्थ भिन्न रूप से निकालना शुरू कर दिया। प्रमुख भिक्षुओं को चिन्ता हुई। सभी भिक्षुओं ने निर्वाण के तीन महीने बाद ही राजगृह मे प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया। तथागत के उपदेशों की प्रामाणिकता बनी रहे इसके लिए इस अवसर पर पाँच सौ बौद्ध भिक्षु पधारे।

भिक्षुओं के आपसी मतभेद बढ़ते गये। धार्मिक उपदेशों को तो ा-मरो ा जाता रहा। तथागत के निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद कालाशोक के शासनकाल में भिक्षु स्थविर रेवत की अध्यक्षता में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन, वैशाली में किया गया। इस आयोजन में भाग लेने के लिए सात सौ भिक्षु पधारे थे। तथागत से प्राप्त उपदेशों का संगायन आठ महीने तक चलता रहा। 'विनय' के विरुद्ध आचरण करने वाले भिक्षुओं को भिक्षु संघ से निष्कासित किया गया। यहीं बौद्ध धर्म की दो शाखायें - हीनयान और महायान की बुनियाद प ी। बाद में बौद्ध-मत की १८ शाखायें हुईं।

चैतन्य

अक्षय गोजा

बना हुआ था ज -सा
मन बरसों तक,
हद यह कि
भान हो पाया अभी अभी
जब लौटने लगा चेतना की ओर।
भयाक्रांत, दीन-हीन, शापग्रस्त-से
निर्बल, अस्तित्वहीन-से मन में
प्रतिबिम्बित होते थे
सारे वजूद, सारे क्रियाकलाप,
पर खुद की कोई छाप,
प्रेरणा या संवेग नहीं थे।
अब जागृत करनी होगी
शक्ति तेज़ी से,
ताकि वक़्त का ख़ामियाजा
हो सके पूरा।
बने मन अधिकाधिक चैतन्य
और शक्तिसंपन्न,
ताकि दे सकें मुँहतो जवाब
सभी चुनौतियों का।

दुबले दो कौ ी के !

डो. जवाहर चौधरी

मोटापा एक प्रतिष्ठापूर्ण शारीरिक स्थिति है। प्रतिष्ठा आदमी को हमेशा आदरणीय बनाती है। आदरणीय आदमी ही आदमी होता है, बाकी को मात्र देश की जनसंख्या कहा जाता है। वैज्ञानिकों ने पाया है कि मोटों को संताने कम होती हैं। जनसंख्या पी ित भारत में मोटे इसलिए भी आदरणीय हैं। योजना आयोग वाले उनकी

इस मेहरबानी के लिए तहे-दिल से उनके आभारी हैं। हमारी जनसंख्या से हम ही नहीं दुनियावाले भी परेशान हैं। चीन तक चौंक कर देख रहा है कि यहाँ मात्र एक मिनट में पचास बच्चे पैदा हो जाते हैं !! उसमें भी ज्यादातर सूखे-साखे, यानी जनसंख्या कैटेगरी के। रूसी लोगों को देखिये, प्रायः मोटे होते हैं, इसलिये आदरणीय भी। दूसरी तरफ बांग्लादेश की जनसंख्या है, जो मात्र संख्या है, जिसे वह 'हमारा कचरा नहीं है !' कहते हुये भारत में फेंक देता है। हालाँकि भारत के नेता उस कचरे से अपनी राजनैतिक खेती के लिए जैविक खाद बनाते रहे हैं, लेकिन कोई देख ले, चुगली कर दे तो ढ़ोरों की तरह वापस हाँक भी देते हैं।

कुछ लोग मोटे नहीं होने के बावजूद प्रतिष्ठित होने में सफल हो जाते हैं, किन्तु लोगों को उन पर तब तक विश्वास नहीं होता जब तक कि उनकी प्रतिष्ठा प्रमाणित न हो जाए। लेकिन हमारे मोटे भाइयों की बात अलग है, वे नज़र में आते ही सीधे प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बिना प्रयास या संघर्ष के प्रतिष्ठा सौभाग्यशालियों को मिलती है। इस तरह मोटापा सौभाग्य का सूचक भी है। शादी के समय सींक-सी दुल्हन को सौभाग्यकांक्षिणी इसीलिये कहा जाता है। मोटी-मोटी महिलाएँ उसे अखंड सौभाग्यवती होने का आशिर्वाद देती हैं। साल-दो साल में ही वधु पर सौभाग्य की पर्तें चढ़ने लगती हैं। एक बार सौभाग्यवती हो जाने पर वो जीवन-भर सौभाग्यशाली बनी रहती है। ल की साल- ेढ़-साल के बाद मायके आती है तो माँ सबसे पहले यह देखती है कि बेटी मोटी हुई या नहीं। अगर नहीं हुई तो वह फौरन अपने पति के सर पर ऐसे तबले बजाती है कि तबले के घोषित उस्ताद भी 'वाह उस्ताद', 'वाह उस्ताद' कहते उछलने लगें। इसके विपरीत फूल-सी बेटी ढ़ोल-सी हो गई तो मोहल्ले में बताशे बँटवा देती है।

हर कोई जानता और मानता है कि मोटापा खाते-पीते घर की निशानी या प्रमाण है। वे घर गौरवशाली होते हैं जिस घर में मोटे होते हैं। मोटों से घर की एक साख बनती है। साख हो तो आज की दुनिया में अनेक काम सिद्ध हो जाते हैं। पुराने समय में व्यापार के लिए लोगों को प्रायः दूसरे राज्यों में जाना प ता था। संचार और यातायात के साधन विकसित नहीं थे। अनुभवी लोग मोटापा देख कर ही तय करते थे कि बंदा कितना ब ा सेठ है। दुबला आदमी गले में सोने की दो-चार चेन पहनने के बावज़ूद शंका के घेरे में रहता था। जबकि मोटे आदमी की साख उसकी चर्बी से तय हो जाया करती थी। किसी आदमी का पेट शरीर से बाहर पोटली की तरह जितना लटका हो उसे देख कर ही उधार देने वाला अपने धन की सुरक्षा का आश्वासन पाता था। अर्थशास्त्र के अध्ययनों में मोटापे और साख पर कुछ चेप्टर होने चाहिये, लेकिन नहीं हैं ! जो आदि-काल से हमारी साख और व्यवसायिक आचरण का मुख्य आधार हैं, वही नहीं है !! जिसे देख कर आज भी लोग कोरा चेक तक दे सकते हैं वही हमारे अर्थशास्त्र में नदारद है !!! इसीलिए विद्वान कहने लगे हैं कि उच्च-शिक्षा का तो भगवान ही मालिक है।

हालाँकि यह ट्रेड सीक्रेट है, किसी को बताया नहीं जा सकता। लेकिन जहाँ नौकरीपेशा होते हैं वहाँ सीक्रेट भी ट्रेड की श्रेणी में आ जाते हैं। बैंक वाले भी नौकरीपेशा हैं सो अपने ट्रेड का सच बता देते हैं कि आदमी अगर मोटा हो तो उसे 'अच्छी पार्टी' मान लेने का चलन आज भी है। एक बार साफ हो जाये कि आसामी तग ा है तो बाकी सब कागज़ी खानापूर्ति से अधिक कुछ नहीं है। बैंक अच्छा और सुरक्षित व्यवसाय करना चाहता है। यह भी सब जानते हैं कि बैंक अपने हर निर्णय के लिए स्वयं ही जिम्मेदार होता है। अतः उसे साख के अपने मानक तय करने का अधिकार है। मैनेजर के सामने अभी साधारण कुर्सियाँ लगी होती हैं, शीघ्र ही उनकी जगह वज़न बताने वाली विशेष कुर्सियाँ लगेंगी। कोई आकर बैठा नहीं कि मैनेजर के सामने उसकी औकात यानी साख स्पष्ट हो जायेगी। वह ड्राज में एक फीता यानी इंचटेप भी रखेगा। ग्राहक के आते ही वह मुस्कुरा कर पूछेगा - 'कहिये, क्या सेवा कर सकता हूँ मैं आपकी?'

ग्राहक भी मुस्कुरा कर कहेगा - 'जी...बस आपकी मेहरबानी चाहिये।'

मैनेजर दूनी मुस्कान के साथ कहेगा - 'हाँ-हाँ क्यों नहीं। बैंक मैनेजर होते ही इसके लिए हैं।...कहिये?'

ग्राहक सकुचाते हुए कहेगा - 'जी...लोन चाहिये...ढ़ाई लाख...।'

मैनेजर सामने स्क्रीन पर आ चुके उसके वज़न पर नज़र डालेगा, 'ढ़ाई लाख !! फिर वह चार्ट देखेगा, ८५ से ९५किलो वाले की एक लाख ऋण की पात्रता है ! हालाँकि ये सज्जन ९५किलो से कुछ ऊपर होने के कारण अगली लिमिट में आ गये हैं फिर भी ढ़ाई लाख से बहुत पीछे हैं।

बताने पर आधा घंटा वह अपना स्वास्थ्य बुलेटिन सुनाएगा कि पिछले महीने तक वह ११०किलो से ऊपर था। हाल के दिनों में आंव-दस्त की शिकायत होने के कारण वज़न अचानक गिर गया है। वर्ना काम-काज और व्यापर बढ़िया चल रहा है।

मैनेजर तब भी अपनी विवशता बतायेगा, नियमों के हवाले देगा। जवाब में आगंतुक आग्रह पर आग्रह किये जायेगा। अंतिम उपाय के रूप में मैनेजर इंचटेप निकालेगा और चपरासी को बुलवा कर उसकी तोंद नपवायेगा। 'ओफ !! यहाँ भी दो इंच से मार खा गये ! ४८इंच ही है !

ग्राहक सफाई देगा 'सुबह से कुछ खाया नहीं सर, वर्ना मेरी तोंद तो कभी भी ५४-५५इंच से कम निकलती ही नहीं है। फिर आप हाइट भी तो देखिये, पाँच फीट हाइट में इतनी तोंद काफी ब ी और साखवान है। फिर भी आप कहें तो मैं खा-पीकर आ जाता हूँ, दो-तीन इंच साख बढ़ जायेगी।'

मैनेजर सोचते हुए पूछेगा - 'आपकी पत्नी कितनी मोटी हैं? अगर मोटी हों तो ज्वाइंट लोन कर देते हैं?'

'वो तो बहुत दुबली है, कंगले घर से आई है। पर आप विश्वास रखें सर, मैं आपके बैंक के लिए लाफिंग बुद्धा जितना शुभ साबित होऊँगा।'

खैर वज़न, हाइट और तोंद के लम्बे गणित के बाद मैनेजर उचित ऋण पास कर देगा और उसे हिदायत देगा कि मोटापा उसका क्रेडिट कार्ड है, इसे अच्छे से मेंन्टेन करे। दुबला आदमी दो कौ ी का होता है, इसलिए अपनी पत्नी को दुबली होने के पागलपन से दूर रखे।

बुद्धि भी अधीर हो चली

राजेन्द्र 'राजेश'

बुद्धि ही हुई बोझिल जब,
हृदय अब कैसे भार वहन करेगा?
बुद्धि कठोर, हृदय कोमल
विज्ञान और कला, 'दो बल'-
किसकी जय होती है कल,
मानव यह सोच रहा प्रतिपल।
विज्ञान धाँधली मचा रहा जब,
मनुज तब कैसे बच सकेगा?
बुद्धि ही हुई बोझिल जब,
हृदय अब कैसे भार वहन करेगा?
बुद्धि सोची होगी पहले
सुख बहुत प्रदान करूँगी जग को,
जग भी मुखरित दीख प ा,
लगा देने आशीष बुद्धि को;
लेकिन गई पार सीमा को जब,
मनुज आशीष तब कैसे दे सकेगा?
बुद्धि ही हुई बोझिल जब
हृदय अब कैसे भार वहन करेगा?
अति वर्जित सर्वत्र है भू पर,
रही जा बुद्धि, उससे भी ऊपर,
हे सृष्टि ! यह अभाग्य तुम्हारा,
लगाया तूने जो बुद्धि का नारा;
लाकर 'नाश' बुद्धि ख ी है,
जगत अब कैसे बच सकेगा?
बुद्धि ही हुई बोझिल जब,
हृदय अब कैसे भार वहन करेगा?
सूझता है एक ही उपाय अब,
हृदय का मान हो, कला का राज्य आये अब;
हृदय, हृदय को जानता है
कल्याण, कला को बहुत मानता है।
धरो पग, चुप क्यों ख े हो विश्व?
इसी से, सबका कल्याण हो सकेगा।
बुद्धि ही हुई बोझिल जब,
हृदय अब कैसे भार वहन करेगा?

अरी सुहागिन करवे लो

सुधा गोयल

इधर दीपावली आती उधर बुधुआ और उसके बेटे अत्रि को वक्त का ख्याल ही न रहता। अत्रि और उसकी घरवाली गुलाबो मिट्टी खोद कर लाते, पानी में भिगोते, पैरों से रौंदते और लौंदा बना कर चाक पर चढ़ाते। कुलियाँ, दीये और करवे बनाते। बरसात शुरू होते ही मिट्टी भिगोई जाने लगती। बुधुआ घर में रह कर रोटी बनाती तथा बच्चों को सँभालती, बर्तनों को धूप दिखाती, चिरमची में कतरन भिगो-भिगोकर बर्तन रँगती रहती। ख या से सफेद लाइनें डालती। बर्तन रँगते समय जैसे वक्त ठहर जाता। बुधुआ कहीं खो जाती और खोये-खोये ही कोई विरह गीत उसके ओठों पर मचलता रहता।

आवाज़ फूटते ही काम करते अत्रि के हाथ रुक जाते। मु कर माँ की ओर देखता, फिर नीची निगाह किये काम में लग जाता। माँ का दर्द वह जानता था। इसीलिए मुंडेर के पार एक उचटती-सी निगाह डाल कर रह जाता। न माँ से कुछ कह सकता था और न स्वयं पर ही काबू पा सकता था। अपने मन का आक्रोश मिट्टी को जोर-जोर से पीट कर निकालता।

गुलाबो चुपचाप सब देखती। शुरू-शुरू में अत्रि के बेबात इस प्रकार उत्तेजित होने पर उसे आश्चर्य हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे बुधुआ के गीतों से जु ी इस उत्तेजना को वह जान गई। कोशिश करती कि रँगाई का काम वह स्वयं करे, बुधुआ को न करने दे, लेकिन काम की अधिकता के कारण अक्सर यह काम बुधुआ के ही हिस्से में आता।

दशहरे से आठ दिन पहले ही बुधुआ दिन निकलते ही टोकरे में कुलियाँ रख निकल प ती। गली-गली आवाज़ लगाती। जाने-पहचाने दरवाज़े खटखटाती, कुलियाँ गिन कर देती, पैसे लेती और आगे बढ़ जाती। वह दोपहर तक एक मोहल्ले का चक्कर पूरा कर घर लौट आती। टोकरा एक तरफ रख सुस्ताने बैठ जाती। पानी से हाथ-पैर धो, दुपट्टे के छोर से पोंछ जमीन पर बैठ उसी से हवा करने लगती।

तब तक गुलाबो रोटी परोस कर थाली सामने रख देती। बुधुआ कमीज़ की जेब से रेज़गारी निकाल कर गिनती और बहू के हाथ में थमा देती। फिर इत्मीनान से रोटी खा आँगन में नीम के पे के नीचे बंस-खट डाल कमर सीधी करती और जब धूप आँगन से सिमट पे की फुनगियों पर पहुँच जाती, वह एक अँग ाई लेकर उठती और टोकरा उठा कर फिर चल देती।

दशहरा निकलता, एक-दो दिन रुक कर ख ि या और गेरू से रँगे रंग-बिरंगे करवे झाबे में रख गली-गली घूमने लगती - 'करवे लो करवे'। वह पिछले तीस सालों से यही कार्य करती आ रही है। घर-घर से परिचित हो गई है। किस घर में कितने करवे चाहिये उसे यह भी मालूम है क्योंकि जिस घर में बेटी या बेटे का विवाह होता है, चाक पूजन उसी से कराया जाता है और कहीं मौत होती है तो वही करवा देती है। कैसा विचित्र संयोग है - मौत, शादी और त्योहार। फर्क इतना ही है कि मौत के करवे आवाज़ लगा कर नहीं बिकते। नाई ही चुपचाप घर से आकर ले जाता है।

चलते-चलते बुधुआ को ठोकर लगी। गनीमत रही कि उसने स्वयं को सँभाल लिया। वरना ऐसी गिरती कि पूरा झाबा ही नीचे आ जाता। और फिर... बुधुआ ने स्वयं को धिक्कारते हुए अपनी सोच को झि कना चाहा। उसमें यही सबसे ब ी खराबी है। सोचती ज्यादा है। तभी मिजाज भी गरम रहता है। सोच की गर्मी तो चढ़ेगी ही। अपने आप पर हँस कर बुधुआ ने जोर की हाँक लगाई।

जोर से हाँक केवल नये आने वालों के लिए लगानी प ती है। बाबू लोग आते-जाते रहते हैं वरना सारे घर जाने-पहचाने हैं। कोई मोलभाव नहीं। एक करवा एक रुपये के हिसाब से, सब अपने आप पैसे पक ा देते हैं। मोलभाव केवल बाबुओं और साहबों की घरवाली ही करती हैं। एक-एक करवा लेंगी और मोलभाव ऐसे करेंगी जैसे सोना खरीद रही हों।

अरे, अपने मर्दों के लिए व्रत करती हो, उनकी पूजा करती हो और पूजा की वस्तु का मोलभाव ! छीः ... बनाव श्रृंगार पर पैसा पानी की तरह बहा देंगी और एक मिट्टी के बर्तन के लिए मोलभाव ! बुधुआ के मन में जाने कितनी बातें इन पढ़ी-लिखी मेमों के लिए उठी हैं, लेकिन हर बार चुप लगा गई है। वक्त ही ऐसा आ गया है। वह कौन लगती है जो किसी को कुछ कहे। सबकी अपनी-अपनी श्रद्धा, अपना-अपना भाव।

फिर अब कौन निर्जल व्रत करती हैं? पहले तो कंठ से एक बूँद पानी की भी न उतरती थी। बहुत सी औरतें पिछले करवे को ही धो-पोंछ कर काम चला लेती हैं। कहती हैं - हर साल एक करवा लेकर इकट्ठे करके क्या करेंगी?

सुन कर बुधुआ को ब ा गुस्सा आता है। मन होता है कहे - 'ए खसमाखानियों ! पूरे साल मरद की कमाई खाती हो, गुलछर्रे उ ाती हो; अरे, एक दिन उसके नाम पर एक रुपया खरचते जी जलाती हो' लेकिन अपने गुस्से से आप ही जल कर रह जाती है। सुना है - ब े घरों में हर साल करवे लेने का झंझट ही खत्म हो गया है। बस एक बार चाँदी, ताँबे, पीतल या स्टील का करवा खरीद लिया। सारा उत्साह एक बार में समाप्त।

बुधुआ ने गहरी साँस ली। झाबे का बोझ उसके लिए असह्य हो उठा। एक-एक कदम भारी प ने लगा। झाबे में रखे करवों के बीच से छतरसिंह झाँकने लगा। यही कोई सोलह-सत्रह साल का बाँका जवान छतरसिंह और उसी की हम-उम्र बुधुआ। समय जैसे पंख लगा कर उ ता जा रहा था। दो पंछी से दोनों आपस में खोये रहते। एक-दूसरे में डूब कर प्यार करने की जैसे हो लगी थी।

उन्हीं दिनों सास के साथ एक-दो घरों में करवे देकर आई थी। शायद सास इसी बहाने अपनी विरासत बहू को सौंपना चाहती थी और बुधुआ ने एक दिन उत्सुकतावश उन्हीं घरों से करवाचौथ मनाने का ढ़ंग और महत्व मालूम कर लिया।

पहली ही करवाचौथ पर बिना सास को बताए निर्जल व्रत किया। शाम को खाने में खीर, पू ी बनाई। फिर नहा-धोकर पूजा की तैयारी करने लगी। उसने भी लाल पा वाली रेशमी सा ी पहनी। माँग में सिन्दूर डाला। कलाइयाँ भर-भर चू याँ पहनीं। चोटी में वेणी गूँथी। पैरों में आलता लगाया। पूजा करने बैठी तो सोचने लगी - 'अब करवा किसके साथ बदले?' सास प ोस में गप्पें लगाने गई है।

थाल में ही स्थापित गौरा माँ के ही जल-कलश को प्रतीक मान आँचल की ओट से सात बार करवा बदल छम-छम करती छत पर चढ़ चन्द्र-दर्शन भी कर आई। कैसी पुलक भरी थी उस दिन।

'करवे लो करवे' - सिर झटक कर जोर से हाँक लगाई। सामने मेहता के यहाँ दो करवे दिए। दो का नोट कमीज की जेब में डाल विचारों के साथ आगे बढ़ गई।

'उस दिन नौ बजे लौटा था छतरसिंह। चुपचाप कोठरी में ले जाकर उसे पीढ़े पर बिठाया। पैरों के नीचे थाली रखी। लोटे के जल से पैर धोये, अपने आँचल से पोंछे और फिर चरणामृत पी गई। वह आलौकिक आनन्द का अनुभव कर रही थी। उधर अपलक देखता, भौंचक-सा छतरसिंह उसकी इस हरकत पर ठठाकर हँस प ा था।'

'...अरी बुधुआ, बिना करवे दिए कहाँ जा रही है?...दरवाजे पर ख ी शरमाइन ने टोका तो बुधुआ खिसियाई हँसी हँस कर बोली - 'अम्मा, आपकी देहरी क्योंकर छोड़ूँगी? बस आ ही रही थी। कित्ते दूँ?'

'ले, अब तुझे ये भी बताना प ेगा क्या? ब कू के ब्याह की याद नहीं? शरमाइन ने झि का।

'सब याद है। बहू जी कहीं मायके में हो इसी से पूछा।'

'पहली करवाचौथ क्या मायके में होती है? चार करवे निकाल।'

दुपट्टे के कोने से झा -पोंछ कर चार करवे थमा दिए। लगा अभी-अभी छतरसिंह के पाँव दुपट्टे से पोंछे हों। वह छतरसिंह को रोकती ही रह गई, लेकिन बुधुआ के इस पागलपन की सूचना उसने अम्मा को दे ही दी।

शरमाइन चुप ख ी बुधुआ को एक नज़र देख, पैसे उसके हाथ पर रख करवे उठाकर अन्दर चली गई और बुधुआ टोकरे को उठाने के प्रयास में वहीं ख ी रह गई।

'सास के सामने जैसे चोरी करते पक ी गई हो, पैर के नाखून से जमीन कुरेदती रही। सास की तरफ देखने की उसकी हिम्मत नहीं प ी। सास ने उसकी ठुड्डी पक आँखों में झाँका। मुस्कुराई' ...और बुधुआ ने एक ही झटके से टोकरा उठा कर सिर पर रख लिया। फिर एक हाँक के साथ आगे बढ़ गई।

'बहू, ईश्वर करे तेरा प्यार ऐसे ही बना रहे '...सास ने सिर पर हाथ फेरा तो वह नीचे झुक गई पाँव छूने।'....बुधुआ ने गुप्ता जी के घर की साँकल खटखटाई।

'...अब तो वह हर साल ऐसे ही व्रत करती और छतरसिंह फूला न समाता। उसके लिए कभी चू याँ, कभी बिछुए, कभी सिंदूर-आलता, तो कभी रेशम का चुटीला लाता। सास बलैयाँ लेती।'

गुप्ता जी की बहू ने करवे अपने आँचल में लिए। टोकरे को सिर झुकाया और दो का नोट थमा धीरे से साँकल लगा ली।

'....पाँच साल बाद एकाएक सब कुछ बदल गया। आँचल की गाँठ ढ़ीली हो खुल गई और ठीक करवाचौथ के दिन वह जब माँ गौरा के जल-पात्र से अपना करवा बदल रही थी, छतरसिंह चन्दा को लेकर उसके सामने आ ख ा हुआ। बोला - 'ले देख बुधुआ आज मैं तेरे लिए क्या लाया हूँ?' बुधुआ सामने ख ी किशोरी को देख चौंक प ी।

'ये म्हारी चंदा है चंदा। समझी? आज तू हम दोनों के पैर धोकर पियेगी।' - छतरसिंह ने बुधुआ की कमर पर धौल जमाते हुए कहा।

'मैं इसके पैर क्यों धोऊँ?'

'तू जिस लिये म्हारे पाँव धोवे है।'

'तू मेरा मरद है'

'...और ये तेरे मरद की जान और मेरी जोरू है।'

'नहीं तेरी जोरू केवल मैं हूँ' बुधुआ अ गई अपने हक के लिए।

'आज से तू मेरी नौकरानी है, दासी है। यह मेरी औरत है। तू ही तो हर साल कहती है कि मैं तेरी दासी हूँ। बोल कहती है या नहीं?' गुस्से से दहा ते हुये छतरसिंह ने बुधुआ के बाल कस कर पक लिए। वेणी खुल कर वहीं गिर गई। छतरसिंह ने उस पर अपने पैर रख दिए।

'हाँ, मैं अब भी कहती हूँ मैं तेरी दासी हूँ पर इसकी नहीं।'

'तुझे साथ रहना है तो दोनों की दासी बनना प ेगा।'

'नहीं, मैं इसकी दासी नहीं बनूँगी' - चीख प ी बुधुआ।

'करवे लो करवे' बुधुआ ने आँचल के छोर से आँखें पोंछी।

'चौकी और पूजा थाल छतरसिंह की ठोकर से दूर उछल गये थे। दीपक बुझ गया था और छतरसिंह उसे घसीटता दरवाज़े के बाहर धकेल आया था। चार साल का अत्रि उसका आँचल पक कर घिसटता रहा था।

छतरसिंह ने खटाक से साँकल चढ़ा ली। वह पूरी रात निराहार दरवाज़े पर प ी, अन्दर की चुहल सुनती रही।' उसकी आँखों से टप-टप पानी बहने लगा। तभी बुधुआ की नज़र सामने मिश्राइन के घर की ओर उठी। ब ी भी जमा थी। कौतुहलवश उसके कदम उन्हीं के घर की ओर मु गए। उसका जी ध कने लगा। अभी चार महीने पहले ही तो छुटकू का ब्याह हुआ है।

बुधुआ ने सुना छुटकू की बहू जल गई है। परी-सी कोमल सुन्दर बहू उसकी आँखों के आगे घूम गई। याद आया- ब्याह का नेग लेने आई थी तब मिश्राइन किसी से कह रही थी - 'खाली रूप क्या ओढ़ूँ-बिछाऊँ? कुछ तो सोचना चाहिये था। आदमी हैसियत देख कर रिश्ता करता है। हमारी तो नाक ही कटवा दी।'

ब े घर की ब ी बातें सोच कर बुधुआ चली आई थी। और आज. . .? तभी उसने देखा कि पुलिस वाले मिश्राइन और छुटकू को हथक ी लगाए, घर से निकल रहे हैं। उसकी स्मृति में वह दिन कौंध गया जब मिश्राइन ने ही उसे करवाचौथ का महत्व समझाया था। छुटकू और छतरसिंह उसकी आँखों के आगे गड्ड-मड्ड होने लगे। भी से अलग हट कर उसने ब ी कोशिश की कि आवाज़ लगाए - 'अरी सुहागिन करवे लो. . . .'लेकिन आवाज़ गले में ही दब कर रह गई।

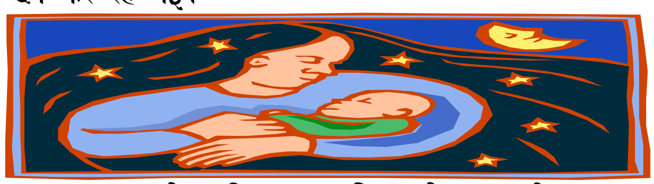

गाँधीजी के बाल्य-संस्कारों की पृष्ठभूमि और उनके राष्ट्रभाषा के विचार

डॊ. विजयराघव रेड्डी

महात्मा गाँधी विश्वविंद्य हैं। विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में सामादृत हैं। उनकी जीवनी और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं पर विपुल साहित्य भारत की सभी भाषाओं में उपलब्ध है। उन्होंने अपनी आत्मकथा अपनी मातृभाषा गुजराती में लिखी है और उसका नाम रखा 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा'। यह ग्रंथ भी विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं तथा भारत की सभी भाषाओं में अनूदित हुआ है। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने सौ खण्डों में अँग्रेजी और हिन्दी में गाँधी वा मय प्रकाशित किया है। गाँधी जी के १८रचनात्मक कार्यक्रमों में से हिंदी का प्रचार एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम माना जाता है। गाँधी जी के द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में घोषणा करना, स्वतंत्रता संग्राम में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार की भूमिका, तथा गाँधी जी की राष्ट्रभाषा नीति अर्थात् उसके स्वरूप और प्रचार के तौर तरीकों को लेकर बहुत कुछ हमारी बहुत भाषाओं में लिखा गया है। इतना विशाल वा मय उस महात्मा के संबंध में उपलब्ध होने पर भी, ऐसा लगता है कि अब भी बहुत कुछ कथनीय, विचारणीय एवं विश्लेषणीय रह गया है। उस महान मनीषी का इतना बहुआयामीय व्यक्तित्व है, इतने व्यापक वैविद्यपूर्ण कार्यक्रम रहे जिनका वे अंतिम साँस तक निर्वाह करते रहे, उन सब को समाहित करने में साहित्य की परिधि पर्याप्त नहीं होगी। महात्मा को समझने में और समझाने में हमारी भाषाएँ असमर्थ-सी लगती हैं। इस संदर्भ में हमें आइनस्टेन का वह कथन बरबस स्मरण हो आता है जिसमें उन्होंने कहा था कि संभव है कि 'आगामी पीढ़ियाँ यह कठिनाई से विश्वास करें कि इस प्रकार का कोई रक्त-माँसवाला पुरुष धरती पर उत्पन्न हुआ होगा।'

राष्ट्रभाषा हिन्दी की विकास-यात्रा, राष्ट्रभाषा पद से राजभाषा के रूप में उस का पद परिवर्तन, उसकी वर्तमान दशा-दिशा, स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में गाँधी जी के नेतृत्व में हिन्दी को लेकर जो विचार देश में प्रचलित रहे थे, उनके सम्बन्ध में, संविधान निर्माण के समय जो विचार हिंदी को लेकर व्यक्त किये गये थे तथा संविधान लागू होने के बाद से, विशेषकर १९६३में उत्पन्न हिन्दी आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में परिवर्ती काल में हिंदी को लेकर विचारों में जो परिवर्तन आये हैं और आ रहे हैं, इन सब के संबंध में हमें बहुत कुछ पढ़ने को मिलता रहा है। इसलिए हिंदी की वर्तमान स्थिति या उसके भविष्य के बारे में चर्चा न करते हुये मैं यहाँ पर यह विचार करना चाहूँगा कि गाँधी जी के द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने में अन्य तमाम कारणों के अलावा उनके बाल्य-संस्कारों की भी कोई भूमिका रही थी? उनके घर-परिवार और उन्होंने जिस प्रदेश में जन्म लिया था, उस गुजरात के पारंपरिक परिवेश की कितनी पीठिका रही थी?

हम जानते हैं कि गाँधी जी बचपन में बहुत संवेदनशील और भावप्रवण व्यक्ति रहे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में अपने झेंपूपन, दब्बूपन तथा संकोची स्वाभाव को स्वीकार किया। यह भी सत्य है कि उन्होंने घर-परिवार और अपने गुजराती समाज से मिले संस्कारों को किसी भी भौतिक आकर्षण या सुख-सुविधा के लिए छो ना कभी स्वीकार नहीं किया। जब हम जन्म से गाँधी जी के पहले के गुजरात के भाषिक परिवेश पर नज़र डालते हैं तो हम पाते हैं कि भक्ति आंदोलन का गुजरात पर भी ब ा प्रभाव प ा था। भागवत पुराण के महात्म्य में भी 'भक्ति द्रविड उपजी', वाले प्रसंग में गुजरात का भी उल्लेख मिलता है। गुजरात में स्वामी वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया था। वैष्णव धर्म का प्रचार गुजराती भाषा में न होकर ब्रजभाषा में होता था। वल्लभाचार्य के पुष्ठिमार्गी वैष्णव सम्प्रदाय के आठों प्रमुख कवियों ने ब्रजभाषा में गीतों की रचना की थी। इनके गीतों के संग्रह को अष्ठछाप कहा जाता है। गुजरात के वैष्णव कवियों ने अपनी कविताएँ ब्रजभाषा में लिख कर वहाँ की जनता के मन में इस भाषा के प्रति मोह पैदा किया था। इन कवियों में भालण, केशवराम, वैजू बावरा, नरसिंह महेता, हरखराम, दयाराम आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त गुजरात के कुछ सूफी कवियों ने भी हिन्दी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था। इनमें से शेख अहमद खाँ, आलम बुखारी, मुहम्मद चिश्ती और शाह हुसैनी के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसे आधार मिलते हैं कि गुजरात में जैन धर्म के प्रचार में भी ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया था। कहते हैं कि आनन्दवन, ज्ञानानंद, किशनदास आदि कवियों ने ब्रजभाषा में भी रचनाएँ की हैं।

महात्मा गाँधी की पौत्री श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी अपनी पुस्तक 'अनमोल विरासत' में गाँधी जी के बाल्य-संस्कारों पर लिखते हुए कहती हैं कि हमारे पितामह का प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहीए, जे पीड पराई जाणे रे' जो नरसिंह महेता का है, उन्हें अपने परिवार से मिला जो उस परिवार का जीवन-आदर्श भी था। वे आगे कहती हैं कि अन्य धर्मों के प्रवर्तन के बावजूद काठियावा मे वैष्णव धर्म की ज ें आम जनता के मानस में गहरा गई थीं। सुमित्रा कुलकर्णी का कहना है कि इस प्रकार की धर्मनिष्ठा पर १४-१५वीं शताब्दी के भक्ति रस का पुट चढ़ गया था। रामानुजाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, जयदेव, मीरा, कबीर, दक्षिण के आलवार संत और महाराष्ट्र के ज्ञानदेव, तुकाराम और वार्करी पंथ के साथ काठियावा में भक्ति-रस के कवि नरसिंह महेता का अपार प्रभाव था। पूरे प्रांत में उक्त दिनों भजन-कीर्तन की धूम मची रहती थी। इन सबका प्रभाव बालक गाँधी पर गहरा प ा था। इस प्रभाव के साथ तत्कालीन वैष्णव संप्रदाय की वरेण्य भाषा के रूप में प्रचलित ब्रज भाषा के प्रति गाँधी के आकर्षण से इंकार नहीं किया जा सकता। इसके अलवा गुजरात के स्थानीय राजाओं के ब्रजभाषा और हिन्दी के प्रति लगाव के कारण सौराष्ट्र, कच्छ और भुज रजवा ों की जनता में हिन्दी एवं ब्रजभाषा के प्रति आदर भाव था। भुज में तो ब्रजभाषा पाठशाला की स्थापना की गई थी और ब्रजभाषा में कवि लोगों को तैयार किया जा रहा था। ये सब प्रमाणित करते हैं कि गुजरात के राजा न केवल स्वयं भी हिन्दी में कविता करते थे, अपितु हिन्दी कवियों को मान-सम्मान और आश्रय देते थे। 'राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में आर्यसमाज का योगदान' नामक अपने आलेख में कृष्ण कुमार ग्रोवर लिखते हैं कि गुजरात प्रदेश में हिन्दी का ऐसा सुखद और आदर्श वातावरण था जिसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती का बचपन बीता जिन्होंने सत्यार्थ प्रकाश को हिन्दी में लिख कर आर्य समाज का प्रचार हिंदी के माध्यम से किया। कहना न होगा कि गाँधी जी से पहले स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिंदी के प्रचार-प्रसार को आर्य समाज की नीति और सिद्धांतों में शामिल कर लिया था।

गुजरात प्रदेश के ऊपर उल्लिखित तत्कालीन धार्मिक और भाषिक परिवेश में गाँधी जी का बचपन बीता था। आस्तिक तथा वैष्णव परिवार में पैदा हुए, पाले-पोसे हुए बालक के बाल्य-संस्कारों की पृष्ठभूमि ब्रजभाषा थी जो वरेण्य भाषा रही थी। ब्रजभाषा धार्मिक पृष्ठभूमि के कारण संस्कृत, पाली प्राकृत के बाद अँग्रेजों के

आगमन तक सारे देश में समादृत होती रही। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि धर्मपरायण भारत की जनता के लिए सम्पर्क भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए उसका धर्म से जु ा रहना भी उसकी एक अतिरिक्त योग्यता मानी जाती रही है। अँग्रेजों के आगमन के उपरान्त राजनैतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक परिवर्तन के कारण ब्रजभाषा का वर्चस्व खत्म होता गया, और उसका स्थान ख ी बोली ने ले लिया। गाँधी जी इसी भाषा के सार्वजनिक सम्पर्क भाषा के रूप को हिन्दुस्तानी कहते थे, जिसे ही वे राष्ट्रभाषा का दर्जा देते थे। वे इसी भाषा के प्रचार को सारे देश में चाहते थे। आज़ादी से पहले २७जनवरी १९४६को गाँधी जी ने दक्षिण भारत के पदवीदान समारोह में जो भाषण दिया था उसमें भी उन्होंने हिन्दुस्तानी पर अपना अभिमत प्रकट किया। भाषण का पूरा पाठ यहाँ उद्धृत है जो भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के संपूर्ण गाँधी वा ्मय भाग ८३से लिया गया है :

'भाषण : दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा में, मद्रास, २७-१-१९४६

आज का कार्य पुण्य कार्य है। कई बरसों के बाद मैं यहाँ खास इस सभारम्भ में भाग लेने के लिए आया हूँ। हमारे सामने काम तो काफ़ी प ा है। थो ा-थो ा करके हम पूरा कर लेंगे। जब हम यहाँ एक पुण्य कार्य के लिए इकट्ठा हुए हैं, कुछ आदमी आपस में बातें कर रहे हैं। यह तो शिष्टता का भंग हो गया। यह पुण्य कार्य है। आप सब शांति रखें। शान्त-चित्त बनें जिससे कि यहाँ जिन-जिन स्नातक-स्नातिकाओं का पदवीदान करने के लिए मैं आया हूँ, उन्हें सावधान कर समझा सकूँ कि हमारा जो कार्य है, वह उन्हें विवेक रख कर करना है। विवेकहीन मनुष्य और पशु तो एक से हैं। आज जिन्हें पदवियाँ मिलेंगी वे बाद में तो हमारा ही कार्य करेंगे। हिन्दुस्तानी का प्रचार करेंगे। इसलिए आप सबके पास यह विवेक-रूपी सम्पत्ति तो जरूर होनी चाहिए। यह सम्पत्ति अगर आपके पास न हो तो आप यह काम कैसे कर सकेंगे?

दूसरी बात आज जो मैं कहने वाला हूँ उसके बारे में आपको सूचित करने के लिए मैंने सत्यनारायण जी से कहा था। वह बात यह है कि आज आप लोग जो प्रति लेंगे उसमें हमारी राष्ट्रभाषा का नाम अब हिंदी न रह कर हिन्दुस्तानी रहेगा। हमारी राष्ट्रभाषा एक लिपि में नहीं, किंतु दो लिपियों में लिखी जाएगी। राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य के लिए द्रव्य देने वालों को भी यह बात पहले समझा देनी चाहिए। हमारा काम उन्हें पसंद है या नहीं, यह देख कर मदद करें। काम जो चलता है, वह कौ ी से भी चलता है। लेकिन कौ ी भी काम के पीछे-पीछे चलती है। अगर हम इस चीज़ को ठीक नहीं समझते, जिसका हम प्रचार करते हैं, तब तो वह सब व्यर्थ होने वाला है। यह एक सिद्धान्त नहीं, बल्कि अविचल अनुभव है। हमारी राष्ट्रभाषा अँग्रेज़ी नहीं हो सकती है। हमारे दिल से हिन्दी शब्द के बदले में हिन्दुस्तानी शब्द निकलना चाहता है। और ऐसे ही भारत के चालीस करो लोगों के दिल हो जाएँ, वह भी स्वाधीन भारत के - तो हमारी राष्ट्रभाषा सिवा हिन्दुस्तानी के दूसरी कैसे रह सकती है?

इस हिन्दुस्तानी को आप अच्छी तरह समझ लें। हिंदुस्तानी तो हिंदू और मुसलमान दोनों बोलते हैं। लेकिन आजकल उसमें दो प्रकार हो गये हैं। संस्कृत हिंदी और फारसी-मिली मुश्किल उर्दू। संस्कृतमय हिंदी में संस्कृत शब्दों की बाढ़ आई है। इससे हिंदुस्तानी की सुसम्पन्नता तो बढ़ती ही है। हिंदी और उर्दू नदियाँ और हिंदुस्तानी सागर है। इन दोनों से हमें घृणा नहीं होनी चाहिए, हमें तो दोनों को अपना लेना है। हिंदुस्तानी का पेट इतना ब ा है कि वो दोनों को अपना लेगी। इसके फलस्वरूप वह एक भारतीय और प्रौढ़ भाषा बन जायेगी, जिससे हमारे देश और दुनिया के लोग सीखेंगे। हिन्दुस्तान में करो ों आदमियों की आबादी है। हिंदुस्तानी जब करो ों आदमियों की और वह भी स्वाधीन भारत की भाषा बन जायेगी तो सचमुच वह एक बहुत ब ी बात होगी। आज जो पदवी लेने आये हैं, वे इस बात को किसी भाँति समझ लें और उसके मुताबिक कार्य करें।'

उक्त भाषण से पहले भी गाँधी जी ने १९४५ के महाबलेश्वर में यह उद्‌गार व्यक्त किया था कि हिंदुस्तानी का मतलब उर्दू नहीं, बल्कि हिंदी और उर्दू की वह खूबसूरत मिलावट है जिसे उत्तर हिंदुस्तान के लोग समझ सकें और जो नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती हो। यह पूरी राष्ट्रभाषा है, बाकी अधूरी।

गाँधी जी चाहते थे कि पाकिस्तान के बन जाने पर भी भारत की राष्ट्रभाषा वही खूबसूरत मिलावट वाली भाषा, हिंदुस्तानी हो। उन्होंने राष्ट्रभाषा के पाँच आवश्यक गुणों की गिनती करते हुए उसके दूसरे गुण के बारे में कहा कि वह ऐसी भाषा हो जो भारत के धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्पर्क के लिए सशक्त माध्यम हो। गाँधी जी ने इसमें सर्वप्रथम धार्मिक संपर्क की बात कही है जिसे नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा

सकता। वे मानते थे कि हिंदुस्तानी ही एक ऐसी भाषा है जो हिंदू-मुसलिम दोनों सम्प्रदायों को एक-जुटता में रखने के लिए कारगर माध्यम साबित होगी। इसलिए वे अपनी मृत्यु के अंतिम दिनों में भी हिंदुस्तानी पर बल देते रहे हैं। उनके निम्नलिखित पाँच उद्धरण प्रमाण के रूप में प्रस्तुत हैं :

१. भले ही इस विचार के साथ आज मैं अकेला होऊँ, यह साफ है संस्कृतमयी हिंदी बिलकुल बनावटी है और हिंदुस्तानी बिलकुल स्वाभाविक है।

२. लिपि में सबसे आला दर्जे की लिपि नागरी को ही मानता हूँ।

३. जब नागरी के पक्षपाती उर्दू लिपि का विरोध करते हैं तो उसमें मुझे द्वेष की और असहिष्णुता यानी तअस्सुब की बू आती है।

४. जहाँ तक मैं समझता हूँ हिंदुस्तानी के लिए दोनों लिपि का चलन थो` अर्से के लिए ही ज़रूरी है।

ऊपर के चार उद्धरण हरिजन सेवक के २५.०१.१९४८ के अंक से लिए गये हैं।

५. हिंदुस्तानी जानने वाले मुझे अँग्रेजी में खत लिखें तो मैं फेंक दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वे हिंदुस्तानी लिख सकते हैं।

प्रार्थना प्रवचन २६.०१.१९४८ से

लेकिन गाँधी जी की मृत्यु के बाद भारत का जो संविधान स्वीकृत हुआ उसमें गाँधी जी के विचार ताक में रख दिये गये। जो अनुच्छेद राजभाषा के सम्बन्ध में (राष्ट्रभाषा नहीं) स्वीकृत हुए वे हमारे सामने हैं और यह भी हमारे सामने है कि राजभाषा हिंदी एवं राज्यों की राजभाषाओं का क्या हश्र हो रहा है।

संविधान की अष्टम अनुसूची तक में हिंदुस्तानी नहीं जो ी गयी। हाँ गाँधी जी के हिन्दुस्तानी-हिमायतियों के आँसू पोंछने के माफ़िक अनुच्छेद ३५१ में इसे सम्मिलित किया गया है।

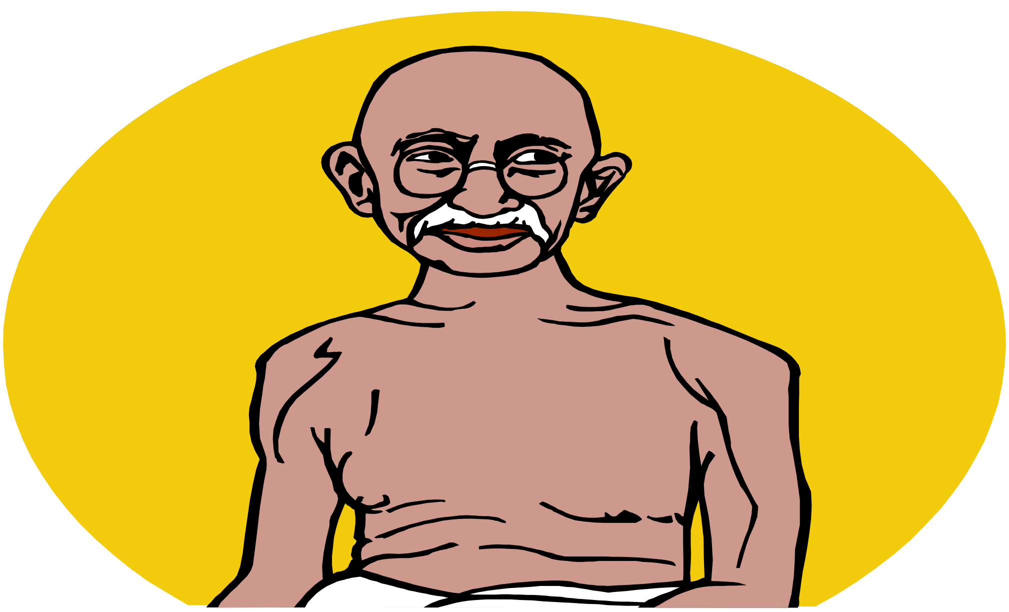

गाँधी और गुण्डे

आचार्य संदीप कुमार त्यागी 'दीप'

गाँधीवादी गुण्डों ने ही लूट लिया गाँधी का देश
जात पात मज़हब पंथों में फूट लिया गाँधी का देश
रघुपति राघव राजाराम, मन्दिर के कारण बदनाम
ईश्वर या अल्लाह का नाम अब करवाता क़त्ले-आम
सत्य प्रेम की पगडण्डी से छूट लिया गाँधी का देश
हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, इसाई, बन बैठे हैं सभी कसाई
चंगुल में इन हैवानों के मानवता बकरी-सी आई
कर हलाल हैं रहे, हाय ! अब टूट लिया गाँधी का देश
गाँधी जी का धर्म अहिंसा, इनका है हथकंडा
गाँधी जी की टेक थी लाठी, इनके हाथ में डण्डा
काले कानूनी मूसल से कूट लिया गाँधी का देश
राष्ट्रपिता बापू की ही हैं यह शोषक शासक-संतान
बात भला ये भूले से भी भारत माँ कैसे ले मान
इन नकली गाँधी-पुत्रों से रूठ लिया गाँधी का देश

***

कल्लो रानी

श्रवणकुमार गोस्वामी

कल्लू के भी ब` अजीब-अजीब शौक हैं। इस बार वह मेला गया तो वहाँ से एक बँदरिया खरीद कर ले आया। बँदरिया के गले में एक पतली-सी रस्सी बँधी थी, जिसे कल्लू ने अपने दाहिने हाथ में थाम रखा था। बँदरिया कल्लू के कंधे पर निश्चिन्त होकर बैठी थी।

घर में घुसते ही बच्चों ने शोर मचाना शुरू कर दिया, 'चाचा बँदरिया लेकर आये हैं।...'

शोर सुनते ही अम्माँ जी अपनी कोठरी से निकलकर आँगन में आ गईं। बँदरिया को देखते ही ब ब ाने लगीं, 'अरे कल्लू ! तू फिर एक मुसीबत लेकर आ गया है। आखिर कब समझेगा तू? कब अकल आयेगी तुझे? हे राम ! इस कल्लू को मैं कैसे समझाऊँ?

कल्लू अम्माँ जी की बातें सुन कर मुस्कुराता हुआ ख ा रहा। बच्चे बँदरिया को तंग करने लग गये। सभी मिलकर अपने-अपने मुँह से 'खों-खों' की आवाज़ निकालने लग गए। बँदरिया खिसियाकर इधर-उधर उछलकूद करने लग गई। कभी-कभी कल्लू जान-बूझकर बँदरिया की रस्सी को ढ़ील दे देता और बँदरिया तेजी से बच्चों की तरफ लपकती। जैसे ही वह बच्चों के समीप पहुँचने को होती, कल्लू झट से रस्सी अपनी तरफ खींच लेता। अपनी तरफ बँदरिया को बढ़ते देख बच्चे गिरते-प ते भागने लग जाते। यह तमाशा काफी देर तक चलता रहा। बच्चों को इस नये खेल में ब ा मजा आ रहा था।

'क्यों रे कल्लू ! क्या तू ज़िन्दगी भर यही सब करता रहेगा? जा, निकल जा इस घर से इसी समय और इस बँदरिया को वहीं छो आ जहाँ से इसे लेकर आया है।' अम्माँ जी ब ब ाने लग गईं।

'अम्माँ, क्यों नाराज़ होती हो? इसे भी यहीं रहने दो न ! इसके यहाँ रहने से क्या फर्क प जाएगा? जहाँ इतने सारे बंदर-बँदरियाँ हैं वहाँ एक और सही।' कल्लू ने अपने भतीजे-भतीजियों की ओर देखते हुए कहा।

'कलमुँहा ! तू मेरे पोते-पोतियों को बंदर-बँदरियाँ कहता है ! इनकी बराबरी तू इस जानवर से करता है ! ठहर, मैं तुम दोनों को अभी बताती हूँ।' अम्माँ जी दनदनाती हुईं अपनी कोठरी में घुस गईं। वह कोठरी से निकलीं तो उनके हाथ में एक कैंची थी।

खच् ! एक आवाज़ हुई। अम्माँ जी ने बँदरिया की रस्सी काट डाली। उन्होंने यही सोचा था कि रस्सी के कटते ही बँदरिया जरूर भाग जाएगी। लेकिन वह भागी नहीं। रस्सी के कटते ही वह उछल कर कल्लू के कंधे पर जा बैठी। शायद अब तक उसे आभास हो गया था कि इस घर में केवल कल्लू ही उसका अपना है।

अम्माँ जी खिसिया कर अपनी कोठरी की तरफ चली गईं। जाते-जाते वह कल्लू को धमका भी गईं, 'जब तक तू इसे यहाँ से भगा नहीं देता, तेरा दाना-पानी बंद रहेगा इस घर में।'

यह सुनते ही बँदरिया एक बार खोंखियाकर अम्माँ जी की तरफ लपकी। कल्लू ने उसे तुरन्त पक लिया। बँदरिया के इस व्यवहार से अम्माँ जी और ब ब ाने लग गईं। और बच्चे ताली बजा-बजाकर अपनी दादी को और लुलुवाने लग गए।

कल्लू के ऊपर अम्माँ जी की बात का कोई असर नहीं प ा। वह अपनी बँदरिया के साथ बीच आँगन में बैठा रहा। उसने अपनी भतीजी कंतो से कहा, 'कंतो, इस बँदरिया का नाम भी कंतो ही है। अब इस घर में आज से दो-दो बँदरियाँ रहेंगी।'

कंतो मचल उठी। उसने अपनी दादी का डंडा उठाकर अपने चाचा को धमकाना चाहा। यह देखते ही बँदरिया खोंखियाने लग गई। कंतो डर के मारे पीछे हट गई।

कल्लू 'हो-हो' कर हँसने लग गया।

'कंतो, अच्छा, तू ही बता कि इसका क्या नाम रखना चाहिए?' कल्लू ने पूछा।

कंतो ने कुछ सोच कर कहा, 'चाचा, इसका नाम 'कल्लो' रख दो, 'कल्लो रानी'।'

कल्लू को लगा कि कंतो ने जान-बूझकर शैतानी की है और उसके नाम से मिलते-जुलते नाम का ही प्रस्ताव कर दिया है। इसलिए वह कंतो को पक ने के लिए लपका। कंतो तो वहाँ से फुर्र हो गई, मगर बाकी बचे बच्चे नाच-नाचकर तालियाँ बजाते हुए गाने लग गए - 'इस घर में आई एक बँदरिया, बन कर कल्लू चाचा की दुलहनिया !' यह सुनते अम्माँ जी फिर अपनी कोठरी से बाहर निकल आईं। उन्होंने बच्चों को डाँटकर भगा देना चाहा। पर बच्चों की यह तुकबंदी सुन कर वह भी रस लेने लग गईं। परिवार के अन्य सदस्य भी आँगन में जमा हो गए और बच्चों के इस सामूहिक गान का आनंद उठाने लग गये। कल्लू खुद भी इस गीत को सुन कर जोर-जोर से हँसने लगा था।

इसप्रकार एक घंटे के भीतर ही बँदरिया का नामकरण संस्कार भी सम्पन्न हो गया। अब वह कल्लो रानी के नाम से पुकारी जाने लग गई। धीरे-धीरे बँदरिया भी समझने लग गई कि लोग उसी को 'कल्लो रानी' कह रहे हैं।

सबको खुश देख कर अब अम्माँ जी का भी गुस्सा शांत हो चला था। वह भीतर गईं और दो केले लेकर निकलीं। बँदरिया का ध्यान कहीं और था। अम्माँ जी ने पुकारा, 'कल्लों रानी, इधर आओ।'

कल्लो ने मु कर अम्माँ जी की तरफ देखा। अम्माँ जी केले देने के लिए उसे अपनी ओर बुला रही थीं। कल्लो ने एक बार कल्लू की तरफ देखा, मानो वह उससे केले लेने की अनुमति माँग रही हो।

कल्लू ने हँसते हुए कहा, 'जा, ले आ केले। डर मत। वह मेरी अम्माँ हैं।'

ऐसा लगा कि कल्लू की बात कल्लो ने समझ ली है। वह अम्माँ जी के पास निर्भय होकर पहुँच गई और दोनो केले लेकर उनके पास ही खाने लग गई।

इस प्रकार पहले ही दिन इस घर में कल्लो रानी का जैसा तग ा विरोध हुआ वैसा ही उसका भव्य स्वागत भी हो गया। दूसरे दिन से धीरे-धीरे उसे सबने स्वीकार करना शुरू कर दिया।

कल्लू प्रतिदिन त के ही जग जाता और घूमने के लिए गुलाब बाग की तरफ निकल जाता। अब कल्लो भी उसके साथ घूमने के लिए जाने लग गई। कल्लो रानी मजे में कल्लू के कंधे पर अपना आसन जमा लेती। गुलाब बाग पहुच कर वह पे ों पर चढ़ जाती और खूब उछल-कूद करती। फलदार पे ों पर बैठ कर मजे में वह कच्चे-पक्के फलों को तो ती। पहले वह उन्हें चखती। जो फल पसंद आता उसे वह खाती और बाकी को चख कर फेंक देती। जब पेट भर जाता तब वह कलाबाजियाँ दिखाना शुरू कर देती। गुलाब बाग में उसका खूब मन लगता था।

कभी-कभी कल्लू साइकिल लेकर भी निकलता था। तब साइकिल की हैंडिल पर कल्लो बहुत आराम से बैठ जाया करती थी। अब उसके गले में रस्सी नहीं रहा करती थी। इसके बावजूद उसने कभी भागने की कोशिश नहीं की थी। वह बराबर कल्लू के आस-पास ही बनी रहती। छे ने वालों पर वह खोंखियाती थी और प्यार करने वालों के साथ प्यार से ही पेश आती थी।

धीरे-धीरे कल्लो का बाहर आना-जाना बहुत कम हो गया। वह घर के भीतर ही घूमती-फिरती। अब न उससे कोई डरता था और न उसे ही किसी से कोई भय मालूम होता था। वह किसी के भी कमरे में घुस सकती थी। उस पर किसी तरह की कोई रोक-टोक नहीं थी। मगर, वह रसोईघर तथा पूजा घर में स्वयं कभी नहीं जाती थी। अम्माँ जी जब पूजा कर रही होतीं तो कल्लो रानी पूजाघर के दरवाजे के सामने चुपचाप बैठ जाती।

एक दिन हँसी-हँसी में अम्माँ जी ने कल्लो से पूछा, 'कल्लो रानी, तुम ऐसे घंटी बजा सकती हो?'

कल्लो रानी ने स्वीकृति में अपना माथा हिला दिया। अम्माँ जी ने कल्लो को घंटी थमा दी। सबको यह देख कर ब ा ताज्जुब हुआ कि उस दिन से कल्लो रानी ने हर दिन पूजा में यथासमय घंटी बजाना शुरू कर दिया। इस घटना के बाद कल्लो रानी घर की एक अनिवार्य सदस्या बन गई।

अब कल्लो रानी ने घर के कामों में भी हाथ बँटाना शुरू कर दिया। कोई बोलता, 'कल्लो रानी, जरा कंघी तो ले आओ।' कल्लो उछलती हुई जाती और कंघी लाकर दे देती। किसी ने कहा, 'कल्लो, जरा आईना तो ले आओ' कल्लो आईना लेकर आ जाती। यह एक दूसरी बात थी कि आईना लाने के पहले वह अपनी सूरत आईने में देखना कभी नहीं भूलती। किसी बच्चे ने कहा, 'कल्लो, मेरी गंजी लाकर दे दो।' कल्लो कप ों के बीच से गंजी छाँट कर ले आती। किसी बहू ने कहा, 'कल्लो, जरा अम्माँ जी को बुला दो।' कल्लो अम्माँ जी की सा ी पक कर खींचना शुरू कर देती और अम्माँ जी समझ जातीं कि किसी ने उन्हें बुलाया है। इस प्रकार कल्लो रानी घर के छोटे-मोटे काम भी करने लग गई। धीरे-धीरे उसे यह मालूम होता चला गया कि किस चीज़ को क्या कहते हैं और कौनसी चीज़ कहाँ रखी जाती है।

घर के सभी लोग अब कल्लो से प्रसन्न रहने लग गए। अम्माँ जी तो उस पर बिलकुल अवलम्बित हो गई थीं।

दोपहर को जब सबका खाना-पीना हो जाता तब कल्लो रानी की माँग अचानक बढ़ जाया करती थी। घर की बहुएँ उसे पुकारने लगतीं, 'कल्लो रानी, कल्लो रानी ! जरा इधर तो आना। मेरे बालों में जूँ बहुत हैं। जरा इन्हें निकालकर मार तो।' कल्लो रानी इस मामले में एक नियम का ब ी कट्टरता से पालन करती। वह उस बहू की सेवा में पहले हाजिर होती जिसकी आवाज़ उसे पहले सुनाई प ती। एक बहू से मुक्त होने के बाद वह दूसरी बहू की सेवा में जुट जाती।

एक दिन अकेले में कल्लो रानी मुनिया का फ्रॉक पहनने की कोशिश करने लग गई। अम्माँ जी ने देखा तो हँसते-हँसते उनका बुरा हाल हो गया। उन्होंने अपनी बहुओं को अपने पास बुला लिया और कल्लो का तमाशा दिखाते हुए कहा, 'जरा कल्लो का नाटक तो देख लो, अब यह भी फ्रॉक पहनेगी। अब यह नंगी नहीं रहेगी।'

सबको हँसते देख कर कल्लो रानी कुछ लजा-सी गई। वह फ्रॉक को फेंक कर छत पर जा बैठी। अम्माँ जी के बहुत समझाने-बुझाने पर ही वह ऊपर से नीचे उतरी।

उस दिन अम्माँ जी ने कल्लो रानी के लिए शाम तक एक जो ा फ्रॉक तैयार कर दिया। अगले दिन से कल्लो रानी का फ्रॉक अम्माँ जी खुद अपने हाथ से हर दिन सुबह बदलने लग गईं।

घर के सब लोगों की तरह अब कल्लो रानी भी कप ों का महत्व समझने लग गई थी। कल्लो रानी को सबका सम्मान और प्यार भी मिलने लग गया। अब वह बच्चों के लिए तमाशा न होकर उनकी हमजोली बन गई थी। स्कूल से लौटते ही बच्चे सबसे पहले कल्लो की ही खोज-खबर लेते। बँदरिया होने के बावज़ूद आज तक उसने घर के किसी सामान को तो ा-फो ा नहीं था। इधर उसने एक नई आदत डाल ली थी। बच्चे जब स्कूल जाने के लिए घर से निकलते तो कल्लो रानी उनके साथ घर के दरवाजे तक जाती। जब बच्चे स्कूल से लौट आते तो वह उनके स्वागत के लिए दरवाजे पर पहले से ही उपस्थित रहा करती। वह कभी किसी का हल्का बस्ता सँभाल लेती तो कभी किसी की पानी की बोतल। उस समय ऐसा लगता कि बच्चों का घर से बाहर रहना उसे भी अखर जाया करता था।

एक दिन एक विचित्र घटना हो गई। दोपहर का समय था। छोटी बहू किसी काम से छत पर चली गई थी। उसका तीन महीने का बच्चा चारपाई पर अकेला लेटा हुआ था। सभी लोग अपने-अपने कमरों में आराम कर रहे थे। कल्लो रानी तेल की मलिया लेकर बच्चे की चारपाई के पास पहुँच गई। उसने मलिया से तेल लेकर बच्चे के शरीर पर ठीक वैसे ही लगाना शुरू कर दिया जैसे अम्माँ जी अपने पोते को लगाया करती थीं। तेल लगाने से बच्चा जग गया और जोर-जोर से रोने लग गया।

बच्चे के रोने की आवाज़ सुनते ही छोटी बहू दौ ी-दौ ी छत से नीचे आ गई। चारपाई पर अपने मुन्ने के पास कल्लो को देखते ही वह चीखने-चिल्लाने लग गई, 'हाय मेरा बच्चा ! अरे कोई बचाओ उसे, नहीं तो यह बँदरिया उसे मार डालेगी।'

छोटी बहू का इस तरह चीखना-चिल्लाना कल्लो को बहुत बुरा लगा। वह बैठी-बैठी छोटी बहू पर खोंखियाने लग गई। उसने मुन्ने को उठा कर अपनी छाती से लगा लेना चाहा। यह देखते ही छोटी बहू को यह संदेह हो गया कि कल्लो उसके बच्चे को दबा कर मार डालेगी। इधर कल्लो को यह लगा कि छोटी बहू

उसके काम में बाधा डाल रही है, इसलिए उसने बच्चे को चारपाई पर लिटा दिया और फिर वह अपने दाँत चिहारती हुई छोटी बहू की ओर दौ प ी। डर के मारे छोटी बहू चिल्लाते हुए अम्माँ जी की कोठरी की तरफ भाग ख ी हुई। वह दरवाजे पर पहुँच कर चिल्ला-चिल्लाकर रोने लग गई, 'अम्माँ जी, अम्माँ जी ! देखिए, यह बँदरिया मेरे बच्चे को मारे डाल रही है।'

अम्माँ जी ने, अपने कमरे से बाहर निकलकर देखा। कल्लो रानी बच्चे को ठीक वैसे ही तेल लगा रही थी जैसे वह स्वयं अपने पोते को लगाया करती थीं। बच्चा भी वैसे ही रो रहा था जैसे वह तेल लगवाते समय बराबर रोता था। यह देख कर तो अम्माँ जी हँसने लग गईं। पर अपनी छोटी बहू की हालत को देखते हुए उन्होंने अपनी हँसी दबा ली।

उन्होंने कल्लो से कहा, 'कल्लो, यह क्या कर रही हो? अब तू वहाँ से हट जा।'

कल्लो रानी चुपचाप वहां से मलिया उठा कर हट गई।

इसके बाद तो छोटी बहू ने घर में एक तूफान ही ख ा कर दिया। उसका पति राजू शाम को छः बजे के आस-पास अपने दफ़्तर से लौटा। छोटी बहू ने अपने पति के कान अच्छी तरह भर दिए। उसने न तो अपनी अम्माँ से कुछ पूछा और न किसी से। बस वह बीच आँगन में आकर ज़ोर-ज़ोर से गरजने लग गया, 'अब मैं इस घर में नहीं रह सकता। इस घर में या तो यह बँदरिया रहेगी या मैं रहूँगा। यह साली बँदरिया तो आज मेरे बेटे को मार ही डालती। भगवान की दया से मुन्ने की माँ ने उसे ऐन वक्त पर देख लिया, नहीं तो अब तक उसकी गोद सूनी ही हो गई होती।'

अम्माँ जी ने राजू को सही जानकारी देकर उसे समझाने का प्रयास किया; मगर राजू पर तो मानों भूत ही सवार हो गया था। वह अपनी ही बके चले जा रहा था। इसी बीच कल्लू भी आ गया। अब राजू ने कल्लू को ही गरियाना शुरू कर दिया। एक बार राजू अपने छोटे भाई कल्लू को मारने के लिए भी लपका। यह देखते ही कल्लो ने उछल कर राजू की धोती ही पक ली। इसके बाद तो राजू का पारा सातवें आसमान पर ही जा पहुँचा।

कल्लू ने अब तक अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा था। अब कल्लो उसके पास ही ज़मीन पर मोरचा सँभाल कर बैठ गई। वह हर तरह के आक्रमण के मुकाबले के लिए तैयार नज़र आ रही थी। उसने भी संभवतः यह समझ लिया था कि उसके ही कारण राजू ने यह वितंडा मचा रखा था।

अम्माँ जी ने कल्लू से कहा, 'बेटा, अब तू ही गम खा ले, नहीं तो इस घर में ब ी तबाही मच जाएगी।'

कल्लू ने झुँझलाकर पूछा, 'तुम ही बताओ अम्माँ, कि मैं क्या करूँ? क्या इस बेज़ुबान को ज़हर दे दूँ?'

'नहीं बेटा, नहीं। तू ऐसा पाप क्यों करेगा? तू इसे किसी ऐसी जगह में छो आ, जहाँ से यह लौट नहीं सके। इसकी आँखों पर तू पट्टी बाँध देगा तो यह लौट नहीं पाएगी। जानवरों को अपने घर की पहचान आदमी से कहीं ज्यादा होती है, इसलिए कुछ ऐसा ही करना प ेगा।'

दूसरे दिन त के ही कल्लू कल्लो रानी को लेकर घर से कब निकल गया, यह अम्माँ जी को भी पता नहीं चल सका।

कल्लू ने अपनी साइकिल निकाली। उसने कल्लो को खूब पुचकारा और सहलाया। कल्लो साइकिल की हैंडिल पर आकर बैठ गई। कल्लू साइकिल चलाता हुआ एक निर्जन बगीचे में पहुँच गया। उसने कल्लो रानी के माथे पर एक थैलीनुमा टोपी डाल दी और उसकी डोरी उसके गले में बाँध दी। कल्लो छटपटाने लग गई; क्योंकि उसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था।

कल्लो की छटपटाहट और उसकी उछल-कूद देख कर कल्लू की आँखों में आँसू छलछला आए। आँसुओं को अपनी कमीज़ की बाँह से पोंछते हुए कल्लो रानी को अकेले बगीचे में छो कर कल्लू अपनी साइकिल पर सवार हो गया।

कल्लो रानी अपने मालिक को खोंखिया-खोंखियाकर खोजने लग गई।

उस रोज़ पूरे दिन सबको कल्लो की कमी घर में खटकती रही। खासकर अम्माँ जी को कल्लो की बहुत याद आ रही थी। स्कूल जाते वक्त बच्चे भी पूछ रहे थे कि कल्लो कहाँ गई है? स्कूल से लौटने पर जब उन्हें कल्लो कहीं नज़र नहीं आई तब सभी बच्चों ने अपनी दादी को घेर लिया। अम्माँ जी उन्हें कुछ-कुछ जवाब देकर टालने की कोशिश करती रह गईं। कल्लू तो बिलकुल मौनी बाबा ही बन गया था। उसने बच्चों के किसी भी सवाल का कोई जवाब नहीं दिया।

अगले दिन सुबह को अम्माँ जी जब पूजा करने पूजाघर में पहुँचीं, उन्हें कल्लो की याद आ गई। उन्हें लगा कि कल्लो यहीं कहीं आस-पास होगी और अभी तुरंत प्रकट हो जाएगी। मगर कल्लो को तो उन्होंने स्वयं घर-निकाला दे दिया था, यह याद करते ही उनका मन दुखी हो गया। बहुत मुश्किल से उन्होंने अपनी पूजा समाप्त की। जब घंटी बजाने की बारी आई तो उनकी आँखों से झर-झर आँसू बहने लग गए।

उस दिन अम्माँ जी ने न दिन को कुछ खाया और न रात को ही कुछ लिया। बहुओं ने जब-जब खाने के लिए पूछा तो झूठ कह दिया, 'आज मेरा पेट ठीक नहीं है।'

कल्लो रानी के अभाव में पूरे घर में एक अजीब-सी उदासी छा गई। लगता था कि घर में किसी की मौत हो गई है। रात को सोते समय अम्माँ जी सोचने लग गईं, 'पता नहीं बेचारी कल्लो कहाँ होगी? वह किस हाल में होगी? वह इस समय क्या कर रही होगी? उसने अपनी टोपी कैसे खोली होगी? उसकी टोपी खुली भी होगी कि नहीं? यह मैंने अच्छा नहीं किया? यह मुझसे कैसा पाप हो गया? . . .' यही सब सोचते-सोचते कब नींद आ गई, उन्हें यह भी मालूम नहीं हो सका।

अम्माँ जी घर में सबसे पहले चारपाई छो देती थीं। जगते ही वह सामने बाले दरवाज़े का ताला खोलने पहुँच जाती थीं। उस दिन भी रोज की तरह अम्माँ जी ताला खोलने के लिए दरवाज़े के पास पहुँचीं। उन्होंने ताले में चाभी डाली तो उन्हें लगा कि बाहर दरवाज़े से सटकर कोई ख ा है और वह दरवाजे को खुरचने का प्रयास कर रहा है। उन्होंने सोचा कि कोई कुत्ता होगा।

अम्माँ जी ने ताला खोलकर दरवाज़े के दोनों पल्लों को जोर से झटक दिया। पल्लों के खुलते ही कल्लो रानी भीतर आ घुसी और वह अम्माँ जी की सा ी पक कर ज़मीन पर बैठ गई। उसने अम्माँ जी के पैरों पर अपना माथा ठीक उसी प्रकार टेक दिया जिस प्रकार अम्माँ जी हर दिन पूजा के अंत में हनुमान जी के चरणों पर अपना माथा टेक दिया करती हैं। अम्माँ जी को ऐसी प्रतीति हुई कि कल्लो अपने अपराध के लिए उनसे माफी माँग रही है।

अम्माँ जी पिघल प ीं। उन्होंने कल्लो को बच्चे की तरह आज पहली बार अपनी गोद में उठा लिया और उसे पुचकारना तथा सहलाना शुरू कर दिया। बंदर रोते हैं कि नहीं, यह तो अम्माँ जी को पता नहीं था, पर न जाने क्यों उन्हें ऐसा लगा कि कल्लो के नेत्र पनीले हो चले थे। कल्लो के पनीले नेत्रों को देखते ही अम्माँ जी द्रवित हो उठीं और उनकी भी दोनों आँखें बहने लग गईं।

मौन

सुमन कुमार घई

मौन -
तुम में कितने स्वर
कितनी अहटें हैं निहित
कितने वाचाल हो तुम
बिना स्वर के ही
कह देते सब कुछ
एक ही दृष्टिपात में
या चेहरे के बदलते रंगों में
होठों की हल्की-सी थिरकन में
कभी भृकुटि की नन्हीं-सी सिलवट में
तुम्हें शब्दों की क्या आवश्यकता -
तुम तो स्वयं
स्त्रोत हो सब भावों के
तुम्हारी ही गोद में हो उत्पन्न
पलते और जीते अपना
सहज सुगम जीवन
शब्दों में बँधते ही
असीम भाव
सीमाबद्ध हो

मौन
तुम सीमा रहित हो
अनादि अनन्त
निराकार निरंकार
यही तो है परिभाषा परमात्मा की
तुम ही थे साक्षी
सृष्टि के जन्म के
और तुम्हीं इसके अंत के पश्चात्
रहोगे जीवित
शब्द, स्वर तो लोप हो जाते हैं
अन्त में तुम्हीं में
जैसे आत्मा परमात्मा में मिल जाती है !
कहीं तुम्हीं परमात्मा तो नहीं?
मेरे प्रश्न का उत्तर भला मौन क्या देगा -

शब्दों में ढ़लते ही अर्थहीन हो जाएगा !

फँस अपनी ही विषमता में
अपना अर्थ ही खो जाते

पश्चाताप

डॉ. इन्द्रा भटनागर

प्रिया के हाथ में पच्चीस हज़ार का चैक था। वह सजल नेत्रों से उसे निहार रही थी। एक सप्ताह से छाए निराशा तथा तनाव के कोहरे को चीर कर उल्लास और हर्ष से वातावरण भर गया था। भावावेश में डूबी वह सोच रही थी कि संवेदनापूर्ण किन्हीं क्षणों में उसने माँ के हृदय में स्नेह का बीज डाला था वह एक ऐसे वटवृक्ष के रूप में फैल गया जिसने अपनी ममता की छाया से सारे घर को प्रसन्नता से भर दिया था।

कुछ वर्षों पूर्व की ही तो बात थी, जब वह कॉलेज की छात्रा थी। पिता वित्त अधिकारी थे। उससे ब` भाई और बहन का विवाह हो चुका था। वह सबसे छोटी सबकी स्नेह-भाजन थी। कॉलेज में वह रोहित के सम्पर्क में आई और न जाने कब वे प्रेम-सूत्र में बँध गये। रोहित एक प्रखर-बुद्धि छात्र था। उससे सीनियर था। वह जब बी.ए. के अंतिम वर्ष में आई, रोहित उसी महाविद्यालय में प्राध्यापक हो गया। वह महत्वाकांक्षी युवक था, कॉम्पटीशन की तैयारी कर रहा था। उससे मिलना होता रहता था। उन्हीं दिनों उसके विवाह की बात चली तो उसने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया कि वह रोहित से विवाह करेगी। पिता ने उससे मिलने की इच्छा प्रकट की।

रोहित ने पिता जी से स्पष्ट ही कह दिया कि वह द्वितीय श्रेणी की शिक्षिका विधवा माँ का बेटा है। वह दो वर्ष का था तभी पिता की मृत्यु हो गई। घर वालों ने उसे आश्रय नहीं दिया। अनेक कठिनाइयाँ उठा कर उसकी माँ ने उसे पाला। इस समय वह इस स्थिति में नहीं है कि प्रिया को वे सभी सुविधाएँ प्रदान कर सके जिसकी वह आदी है, परन्तु भविष्य पर उसे पूर्ण विश्वास है।

मम्मी अपनी बेटी का सामान्य परिवार में विवाह करने को तैयार नहीं थीं परंतु पिता उसकी स्पष्टवादिता, महत्वाकांक्षा तथा उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो गए थे, उन्होंने स्वीकृति दे दी। अन्ततः मम्मी को भी सहमत होना प ा।

विवाह के समय बुआ ने कहा था, 'भाभी तुमने तो प्रिया को घर का सभी सामान देना चाहा पर राहुल ने तो कुछ भी लेना अस्वीकृत कर दिया। उसका कहना है कि वह अपने परिश्रम से साधन जुटाएगा. . .।'

चलते समय भाभी ने हँसते हुए कहा था, 'माँ का अकेला ल का है। कहीं ऐसा न हो उन्हीं के आँचल से बँधा रहे। ननद रानी ज़रा सँभाल कर रखना।'

वह कुछ बोल नहीं सकी थी परन्तु विभिन्न टीका-टिप्पणियों ने उसके अनजाने ही उसके अवचेतन को अवश्य प्रभावित किया था।

ससुराल में रोहित की माँ ने असीम ममता तथा स्नेह से उसे अपनाया था परन्तु वह उनको वह आदर तथा स्नेह नहीं दे सकी जिसकी वह अधिकारिणी थीं। रोहित का भी माँ के प्रति अंतहीन सम्मान और प्यार उसे अच्छा नहीं लगता था। समय बीतता रहा; वह आलेख और सुरभि की माँ बन गई। उसने भी सर्विस ज्वाइन कर ली। माँ सेवा-निवृत्त हो गईं। फिर बीमार होकर उन्होंने खाट पक ली। वह ऑफिस, घर का कार्य, बच्चों के स्कूल का कार्य कराने आदि कामों में उलझ इतना थक जाती थी कि उसके स्वाभाव में भी झुंझलाहट बढ़ती गई। रोहित के साथ प्रतिदिन शाम को घूमना कम होता गया। रोहित सोचने लगा था कि वह उसकी भावनाओं की उपेक्षा करती है। जीवन में उल्लास और उमंग के स्थान पर जैसे नीरसता और उदासीनता आने लगी थी।

उस दिन अपराह्न वह चाय बना कर राहुल की प्रतीक्षा कर रही थी। राहुल ने आते ही उससे कहा कि वह ऑफिस कार्य से दो-तीन दिन के लिए इलाहाबाद जा रहा है, तो वह बहुत खुश हुई। पिता की मृत्यु के

समय वह इलाहाबाद गई थी, उसके पश्चात् तीन-चार वर्षों से वह जा नहीं पाई थी। उसने भी जाने का प्रोग्राम बना लिया। मम्मी से मिलने की कल्पना कितनी सुखद थी।

इलाहाबाद पहुँचकर वह चकित रह गई। मम्मी का वह गरिमामय व्यक्तित्व जिससे सारा घर प्रकाशित रहता था, धूमिल हो गया था। भाभी के वर्चस्व की छाया में वे उपेक्षणीय हो चुकी थीं। मम्मी को रात भर खाँसी आती रही, वे अस्वस्थ थीं परंतु उसने भइया को या भाभी को तनिक भी चिन्तित नहीं देखा। उसे याद आया, पहले कभी मम्मी के सिर में दर्द या जुकाम भी हो जाता तो किस प्रकार पापा, भइया और सब चिन्तित और परेशान हो जाते थे। वे भाई-बहन माँ को घेरे रहते थे। मम्मी डाँट-डाँटकर उन्हें भगाती थीं, तो भैया उनकी गोद में सिर रख कर लेट जाते थे। भइया या भाभी से कुछ कह सकने की स्थिति में वह नहीं थीं। सुबह विदा होते समय मम्मी ने उसे सौ का नोट दिया तो वह मम्मी से लिपट कर रो प ी थी।

फर्स्ट क्लास में उसका रिजर्वेशन था। राहुल निद्रा में मग्न था पर वह सो नहीं पा रही थी। आँखें बंद करते ही उसके सम्मुख मम्मी और सासु माँ की आकृतियाँ उभरतीं और एक-दूसरे में गड्ड-मड्ड हो जातीं। उसने नई दृष्टि से माँ के संदर्भ में जब अपना विश्लेषण किया तो अपराध-बोध से ग्रस्त होने लगी।

घर पहुँचने पर रात्रि में जब उसने अस्थमा से पीि त माँ की खाँसी सुनी तो हमेशा की तरह उसे झुंझलाहट उत्पन्न नहीं हुई। इससे पूर्व माँ को जब भी अस्थमा का आक्रमण होता था तो वह ब ब ाने लगती थी, 'सारे दिन एक मिनट को चैन नहीं और रात भी चैन से नहीं सोने देतीं, क्या मुसीबत है।' ऐसे समय राहुल कुछ कहता तो नहीं था परंतु दूसरी ओर करवट करके लेट जाता था। उस दिन वह खाँसी की उपेक्षा नहीं कर सकी। ग्लाइकोडीन की शीशी उठा कर वह माँ के कमरे में जा पहुँची। धीरे से उनका सिर अपनी गोद में रखा, दवा पिलाई, फिर बालों में हाथ फेरने लगी। माँ की आँखों में आश्चर्य उभरा, फिर आँखों में आँसू आये। कुछ समय बाद ही वे शांत निद्रा में मग्न हो गईं।

सुबह उसने रोहित से कहा कि वह अवकाश ले रही है, रोहित भी ले ले। माँ को डाक्टर को दिखाना है। कुछ क्षणों तक रोहित उसकी ओर अपलक दृष्टि से देखता रहा, परन्तु प्रकट में उसने केवल 'अच्छा' ही कहा। डाक्टर ने एक सप्ताह के लिए उन्हें हॉस्पिटल में एडमिट किया। कभी वह और कभी रोहित माँ के पास रहते। अब उसे रोहित का माँ के प्रति प्रेम देख कर बुरा नहीं लगता था।

हॉस्पिटल ले जाने के लिए वह माँ की सा ियाँ देख रही थी तभी माँ की डायरी गिर प ी। उसने उठाई तो कुछ पंक्तियों पर उसकी दृष्टि अटक गई - 'वृक्ष पर नई कोपलें आती हैं तो पुरानी झ ने लगती हैं। जो पत्तियाँ नहीं झ तीं वे व्यर्थता का अहसास कराती हैं। नई पीढ़ी को अपना सबकुछ देकर पुरानी पीढ़ी भी व्यर्थ हो जाती है। वह नई पीढ़ी से केवल स्नेह तथा सम्मान के दो शब्द चाहती है, पर नई पीढ़ी इसे देने में कितनी कंजूस हो गई है।'

अन्य पृष्ठ पर लिखा था - 'जीने की इच्छा समाप्त हो गई है। व्यर्थता के बोझ ने जैसे आत्मा को दबा लिया है। स्नेह की एक बूँद के लिए तृषित आत्मा जैसे रेगिस्तान में भटक रही है। दूर-दूर केवल रेत के टीले ही टीले दृष्टिगत हो रहे हैं।'

हृदय अपराध-बोध और ग्लानि से भर उठा। एक सप्ताह पश्चात् जब माँ वापिस आईं तब स्वस्थ एवं प्रसन्न थीं। इस एक सप्ताह में ही उन्हें एक आत्मीयता और स्नेह के धागे ने आबद्ध कर लिया था।

माँ ने मकान के नीचे के भाग में स्कूल खोल लिया। दो वर्ष में ही स्कूल ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

रविवार को हम सब दोपहर का भोजन कर रहे थे तभी माँ बोलीं, 'बेटा तुम स्कूटर क्यों नहीं खरीद लेते? प्रिया और तुम बस की झंझट से मुक्त हो जाओगे।'

'क्या कहती हो माँ ! घर खर्च, बच्चों की फीस के पश्चात् बचता ही क्या है जो स्कूटर खरीदें?'

'घर खर्च और फीस आदि की चिन्ता मत करो। वह सब मुझ पर छो ो। तुम अपने दोनों के वेतन द्वारा उसकी किश्त शीघ्रता से चुका सकते हो। '

पता नहीं माँ घर का खर्च कैसे चलाती थीं। स्कूटर के पश्चात् फ्रिज और सभी आवश्यक सुविधा की वस्तुएँ घर में आती गईं। स्कूल में काम करने वाली बेसहारा रम्मो घर में ही रहती थी। ऑफिस से आने पर उसे अब घर के कार्यों की चिन्ता नहीं रहती थी। बच्चों का होमवर्क भी माँ उसके आने से पूर्व करा देती थीं। बच्चों की प्रोग्रेस रिपोर्ट अच्छी आ रही थीं। ऑफिस-वर्क, फिर बस पक ना, घर का कार्य, बच्चों का होम-

वर्क आदि के कारण उत्पन्न थकावट, झुँझलाहट और मानसिक तनाव के कारण रोहित और उसमें जो दूरी आ रही थी, वह भी समाप्त हो गई थी।

समय पंख लगा कर उ ता रहा। सुरभि दसवीं की परीक्षा दे रही थी, आलेख पी.एम.टी.में उत्तीर्ण हो गया था। माँ दस-बारह दिन के लिए अपनी बहन की पौत्री के विवाह में देहरादून गईं थीं। बैंगलोर मेडिकल कॉलेज में आलेख की प्रविष्टि तथा प्रन्दह दिन में फीस आदि जमा कराने का टेलिग्राम आया। सात-आठ माह पूर्व ही भइया का पत्र आया था कि उन्हें २५०००रुपये की तत्काल आवश्यकता है। उसने तथा रोहित ने अपने-अपने प्रोविडेन्ट फंड से रुपये निकालकर उन्हें भेज दिए थे। यह भी लिख दिया था कि आलेख यदि पी.एम.टी. में उत्तीर्ण हो गया तो उस समय रुपयों की आवश्यकता होगी। भइया ने आश्वस्त किया था कि वे पाँच-छः महीने में ही रुपये वापिस कर देंगे। टेलीग्राम पाते ही भइया को पत्र लिखा। अभी उन्होंने एक महीने से पूर्व रुपये वापिस करने में असमर्थता प्रकट की। केवल आठ दिन रह गए थे। वे दोनों ही चिन्तित और परेशान हो गये। रोहित ने तीन-चार दिन का अवकाश लिया। दो-तीन जगह उन्होंने प्रयत्न किया परन्तु व्यवस्था नहीं हो पाई थी।

उस दिन दोपहर चार बजे बहुत ही हतोत्साहित, निराश और चिन्तित रोहित वापिस आया। प्रिया ने चाय बनाई। चाय का प्याला सामने रखे दोनों ही मौन बैठे थे, तभी ऑटो से उतर कर माँ आईं। उसने और रोहित ने चरण-स्पर्श किये। माँ की आवाज़ सुन कर सुरभि और आलेख भी कमरे से बाहर आ गये। आलेख की आँखें लाल हो रही थीं। शायद वह चुपचाप रो रहा था। बोझिल तथा तनावपूर्ण वातावरण देख कर माँ घबरा गईं, 'अरे तुम सब को क्या हुआ है? आलेख की आँखें लाल हो रही हैं। तुम भी चिन्तित और परेशान लग रहे हो।'

उसने स्थिति को सँभालते हुए कहा, 'माँ, आलेख का बैंगलोर मेडिकल कॉलेज में चयन हो गया है।'

'यह तो बहुत खुशी की बात है।'

'पर माँ, बैंगलोर जाने, एडमीशन कराने आदि के लिए कम से कम पन्द्रह-बीस हज़ार रुपये चाहिये। जाने का समय आ गया है परन्तु रुपयों की व्यवस्था नहीं हो पा रही है।'

'तुमने मुझे टेलीग्राम क्यों नहीं दे दिया।' माँ अपने कमरे में गईं, फिर उसे २५०००हजार का चैक पक ाते हुए रोहित से बोलीं, 'तुम और प्रिया भी पन्द्रह दिन का अवकाश लेकर बैंगलोर घूम आओ।'

रोहित ने अपना मुँह दूसरी तरफ घुमा लिया परन्तु उनकी आँखें सजल हो रही थीं। क्षण-मात्र में ही वातावरण हल्का-फुल्का तथा सुरभि और आलेख की हँसी से उल्लासपूर्ण हो गया था।

प्रिया की आँखों से उसके अनजाने ही आँसू बह रहे थे। उसी समय रोहित वहाँ पहुँचा, 'अरे, अभी तैयार नहीं हुईं? बाज़ार चलना है, फिर बैंगलोर जाने की सब तैयारियाँ करनी हैं। तुम रो रही हो! क्या हुआ?'

'आह ! धरती कितना देती है रोहित। काश, हम उसके अंक में स्नेह का एक अंकुर बो सकें !

'धरती माँ होती है न प्रिया, जो केवल देना जानती है।' रोहित ने उसकी आँखें पोंछते हुए कहा।

संस्कार कभी नहीं डूबते

डा. अंजना संधीर

लोगों से भरी खचाखच
लोकल ट्रेन में
कमर पर बैग लटकाये
एक हाथ से ट्रेन का हैण्डल थामें
कानों में फैशन से टाप्स पहने
साँवले-से चेहरे वाले युवक ने दूसरे हाथ से
एक छोटी-सी पुस्तक को माथे पर लगा
नमस्कार कर आँखें बंद कीं
फिर खोल कर पन्ना पढ़ने लगा
तब मेरी आँखें आश्चर्य से
खुली की खुली रह गईं
इस भी -भरी ट्रेन में
यह युवक दुर्गा सप्तसदी पढ़ रहा था....
जगमगाहट और जादू भरी इस नगरी में
जहाँ ईमान डोल जाता है वृद्धों का भी
वहाँ यह युवक पढ़ रहा था दुर्गा सप्तसदी।
सिर अभिमान से तन गया मेरा
और पूछा मैंने,
तुम भारत में कहाँ से हो?
उसने अनसुना किया
मैंने सोचा, पाठ में मशगूल है
ट्रेन चलती रही
मुसाफिर उतरते रहे, चढ़ते रहे,
वो पढ़ता रहा।
एक बार फिर पूछा मैंने
उसने पलट कर देखा, बोला कुछ भी नहीं
मन दुखी हुआ, मगर उसके अच्छे कर्म ने
फिर झकझोरा - अँग्रेजी में पूछा मैंने,
क्या तुम भारत से हो?
ब ी शालीनता से हँसते हुए उसने देखा
और कहा - जी नहीं चु ीनाद से
हिन्दी नहीं आती मुझे;
अँग्रेजी शब्दों में लिखी दुर्गा सप्तसदी पढ़ रहा हूँ
दिन सुधर जाता है
मेरा धर्म मुझे बताता है
मैं एक हिन्दू हूँ
छूट गया हूँ अपने वंशजों से
पर उनका ज्ञान, ध्यान, शब्द, उपासना,
अब भी मेरे साथ हैं
जो दिये हैं मेरे पितरों ने
और इसी तरह मैं दूँगा
अपनी पीढ़ी को
और इसी प्रकार चलती रहेगी यात्रा
पीढ़ियों से पीढ़ियों की ओर।
ब्यालीसवीं गली के स्टेशन पर
दो हाथ जो , प्रणाम कह
ट्रेन से उतर गया वह युवक,
अमरीका की चमक-दमक में भी
वो गिरमिटिया मजदूर
पढ़ता है दुर्गा सप्तसदी
दिन शुरू करने से पहले;
इसीलिए जिन्दा है आदमी
भले वह कहीं भी रहे
उसके संस्कार जिन्दा रखते हैं उसे
सब कुछ डूब जाने पर भी
संस्कार कभी नहीं डूबते
संस्कार कभी नहीं डूबते।

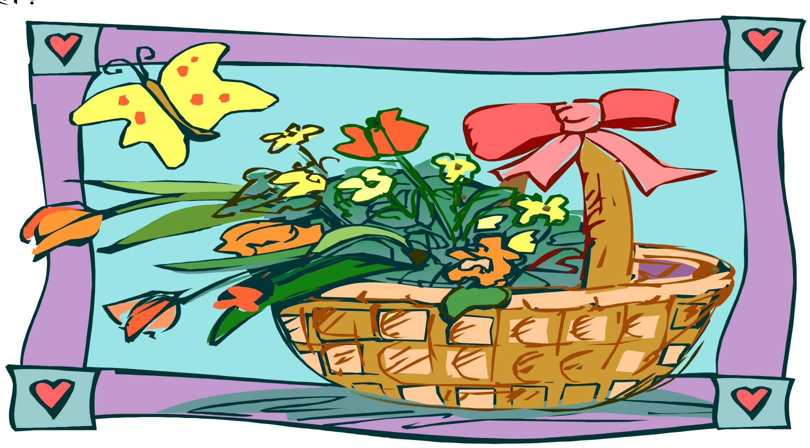

अंतिम हस्ताक्षर

चन्द्रकांता

अगर मैं आज एक कहानी लिखती, तो उसमें पीपल और कीकर के छतनार वृक्षों से ढ़के 'सरोवर' की हरियायी तराशी घास में यहाँ-वहाँ झाँकते, सफेद-पीले फूलों का जिक्र होता। उसमें भुवन की सुहागरात वाले कार्तिकी चाँद का नीले आकाश के फेनिल समंदर में डूबते-उभरते चेहरे का काव्यमय वर्णन होता। नन्ही दूब को थपकियाँ देकर सुलाती पुरवा के उन झोकों का मंज़र होता, जिस पर मेरी नज़र फिसलकर निकल गई, मगर रुकी नहीं।

मेरा ध्यान तो मनोहारी परिदृश्यों से हटकर 'सरोवर' के पिछले दरवाज़े के बाहर, तंग-से गलियारे में उख ी ईंटों के दीवार के साथ-साथ कमर झुकाकर चलते भैया जी में सिमट आया है। यहाँ दीवार की ओट में, अँधेरे में, उनके काले कोट और अधमैले सफेद पाजामेवाले पहरावे को आँखों पर जोर देकर तो देखा जा सकता है, लेकिन उनकी जो हमेशा अपने इर्द-गिर्द, अपनों-परायों की भी इकट्ठा कर, बेमतलब के हंगामों और शोर-शराबोंवाली आवाज़ों में स्वयं को कवच की तरह लपेट लेने की आदत है, उससे अपने को एकदम काटकर अलग करने की मजबूरी और अपने खूँखार अकेलेपन में लौट आने की पथरीली उदासी को भला हंगामेवाली भी कैसे महसूस कर सकती है?

मैं अगर कोई कहानी लिखती तो लम्बे-चौ े लॉन में सजे शामियाने के भीतर चहकते लाउडस्पीकरों और महकती खसखसी सा ियों और जिस्मों की बातें लिखती, जिसमें दूल्हा-दुल्हन के पोज़ बदल-बदलकर खिंचते जाते फोटोग्राफों का जिक्र होता, रिसेप्शेन में आए, लाल-नीले रिबनों से बँधे तोहफों की चौंध होती। लेकिन मैं कहानी कहने के मूड में नहीं हूँ। मैंने कहा न, मेरा ध्यान मकान के पिछवा ेवाले हिस्से में ठिठक गया है, जहाँ पकवानोंवाली खाली, कालिख-पुती देगों, चिकने तेलियाए तसलों-चिलमचियों, पानी के ड्रमों और मिट्टी में कीच हुई पाइपों से खुद को बचाते भैया जी कमर झुकाकर, कुछ-कुछ तत्परता से कदम बढ़ा रहे हैं।

उधर भुवन की मम्मी सजी प्लेटों मे सुवासित पकवान आमंत्रित मेहमानों को खिला रही हैं। उन्हीं देगों-हंडों में पका खाना, जो अपना काम खत्म कर, पिछवा े के आँगन में लावारिस-से प े बिसूर रहे हैं। उन्हीं के बीच भैया जी को ख ा देखकर मुझे लगता है कि भैया जी रात-रातभर गला फा कर नसें खिचने तक गाते-बजाते, घुटनों तक पाजामा पलटाए, देगचियाँ-हंडे उठाते, बैरों के साथ मेजें सजाते, प्रीतिभोज तक आकर फालतू हो गए हैं। तभी तो भुवन की माँ, जो पिछले चंद दिनों उनके आगे-पीछे मनुहारें करती फिरती रहीं, इस वक्त बिल्कुल भूल गई हैं कि भैया जी भी इस हंगामे में शरीक हुए थे।

भैया जी को अचानक ही घर लौटने की जल्दी हो गई है। विदा लेने से पहले उन्होंने जरूर एक नज़र घुमाकर भुवन की माँ को खोजा होगा, और उन्हें अधिक आवश्यक कार्यों में उलझी देख चुपचाप, सूखी आँखों में लबालब भर आई पानी की कटोरियों को छलकने से बचाते बाहर निकल आए होंगे।

'ये तुम्हारे सीने के ज़ख्म, इन पर खामोशी के फाहे रख दो।

न, किसी को न दिखाना, इन्हें हँसी का सबब न बनाना।'

भैया जी का प्रिय गीत है यह, जिसकी अनुगूँज इस वक्त उनके समूचे अस्तित्व को डगमगा रही है। उनकी बेइंतहा खामोशी में अज़हद तकलीफ की गहरी जक को महसूस करते, मैंने पहली बार भैया जी के बचे-खुचे विश्वासों को ढ़हते देखा है। दरारों-प े सूखे ताल-सी आँखों में बहने को बेताब झरनों का आवेग ! नहीं, देखा कहाँ? अँधेरे में उनका चेहरा दिख कहाँ रहा है? सिर्फ महसूस-भर ही किया है। चेहरा तो उन्होंने दीवार के साये में लेटे उस ठोस अँधेरे की तरफ घुमा लिया है, जिसे कार्तिकी पूनम भी भेद नहीं पाती। और भैया जी सोच रहे हैं, इसी गुमनाम गहरे अँधेरे से भागकर वे रोशनी की कमज़ोर लीकें पक ने 'सरोवर' में आए थे।

नहीं, घर लौटने की जल्दी उन्हें नहीं है। घर तो भैया जी का है ही नहीं। वे कभी-कभार मज़ाक में कह भी देते हैं - 'घर तो घरवाली से होता है।' सुना है, भैया जी की पत्नी कई वर्ष पहले

कैंसर के महारोग की शिकार होकर गुज़र गईं। भैया जी ने काफी इलाज़ करवाए, लेकिन उन्हें ठीक नहीं होना था। भैया जी पत्नी की सुंदर सुगठित देह को बर्फ के ढ़ेले की तरह गलते और निःशेष होते देखते रहे।

बाल-बच्चे ज़रूर हैं, परंतु सभी अपनी-अपनी जगह। भैया जी कभी एक के पास आठ-दस दिन टिकते हैं, कभी दूसरे के पास। जोगी की-सी ज़िन्दगी है। यों वे दो जून खाने को मोहताज़ नहीं हैं। अपनी पेंशन में ही गुज़ारा चल जाता है, पर उनका मन कहीं टिके तो !

माँ कहती हैं, 'पुरुष तमाम उम्र स्त्री को समझ नहीं पाते। भैया जी को ही लो। इनकी पत्नी इन्हें बच्चे की तरह सँभाला करती थी। माँ की तरह हर ख़ता माफ, हर गल्ती पर पर्दा डालती थी। लेकिन भैया जी? उन्होंने कभी बेचारी के साथ सीधे मुँह बात भी की? गुस्सैल इतने थे कि ज़रा-सी चूक पर बर्तन-भाँडे फो दिया करते। अब देखो, गुज़र गई तो कैसे बिसूर रहे हैं. . . .'

पता नहीं माँ की बात में भैया जी की पत्नी के प्रति दया-भाव है या बाबूजी के लिए कोई सामयिक चेतावनी या उलाहना? बाबूजी कहते हैं - ठोकरें खानेवाली बात सही नहीं है। दरअसल भैया जी का दिमाग ही चल गया है। बेचारे बेटे-बेटियाँ कब साथ रखने की मनाही करते हैं?

भुवन के पापा ब े रहमदिल हैं। उन्होंने भैया जी को प्रैक्टिकल होने का सुझाव दिया। तीन बच्चे हैं। चार-चार महीने एक-एक के पास बारी-बारी से रहें तो चेंज भी हो जाएगा और बच्चों को बोझ भी महसूस न होगा।

भैया जी उस दिन बेहद बौखला उठे थे - जिसे देखो, सीख के डोज़ पिलाने चला आ रहा है। अरे भाई, तुम लोग अपनी परेशानियों का हल ढूँढ़ो, क्यों बेचारे भैया जी के ग़म में ग़र्क हुए जा रहे हो. . . .

उस रात भैया जी को नींद नहीं आई। आधी रात उठकर हारमोनियम खोला और अपने भीतर घुटती चीख को सहलाते रहे - मानता हूँ मैं नाकाम रहा। मैंने पाया कम, खोया ज्यादा। लेकिन मैं शर्मिन्दा नहीं हूँ। मैंने कोशिशें कीं। तमाम उम्र। मैं छिलता रहा। घुटता रहा। लेकिन मैं हारा नहीं। न . . . . मैं नहीं हारा।

भैया जी के पास एक झोला रहता है, जिसमें एक धुला कमीज़-पायजामा, तौलिया, टूथपेस्ट, साबुन की बट्टी, सुई-धागा, फर्स्ट-एड का कुछ सामान, गीतों-गज़लों की पुस्तकें व दो पृष्ठों की एक हस्तलिखित पुस्तिका भी रहती है, जिसमें जगह-जगह पेन्सिल से सही के निशान लगे हुए हैं। इस पुस्तिका की कई साइक्लोस्टाइल कापियाँ उन्होंने बनाई हैं। जो भी कोई उनका मित्र बन जाता है, उसको एक प्रति सप्रेम भेंट दे देते हैं। इसमें उनकी पत्नी की कही गई कुछ सूक्तियाँ हैं, अनुभव के ताप से तपे हुए कुछ मुहावरे, कुछ गीतों के अंश !

बाबूजी कहते हैं, भैया जी ताउम्र एक फक्क की ज़िन्दगी जिए। पत्नी, बच्चे, घर-गृहस्थी, सबका अपने मूड के हिसाब से इस्तेमाल किया। पत्नी ने कभी शिकायत नहीं की। हाँ, सूक्तियों और कुछ प्रचलित मुहावरों को कभी-कभार वाक्यों में प्रयुक्त कर एक डायरी में बंद कर दिया। उस समय भैया जी ने इसे औरतों की सनक कह कर नाक पर की मक्खी-सा उ ा दिया, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद भैया जी अचानक उन सूक्तियों का अर्थ बाँचने की ज़रूरत महसूस करने लगे।

अल्ह यौवन के दिन थे तब भैया जी के। वे महत्वाकांक्षाओं की ऊँची अटारियों तक पहुँचना चाहते थे। दौ ते-हाँफते वे आकाश को बाँहों में भरना चाहते थे। पत्नी उनकी इस, चूहा-दौ के घेरे से एकदम बाहर थीं, फालतू। वे घर की दीवारों में कैद, अकेलेपन से त्रस्त, खुली खि की से छिटकी चाँदनी देखा करतीं। वितस्ता की लहरों पर नवेली के प्रथम स्पर्श-सी काँपती-कँपाती चाँदनी उनके सीने में ज्वार-भाटों के आवेग उठाती। उनकी गहरी आँखों में विषाद घुल जाता और होंठ उलाहने में बुदबुदाते - 'काश ! मेरे साथ तुम भी देख लेते यह चाँदनी का खेल। एक हो जाता हमारा भी कोई अलभ्य अनुभव। आखिर तो हमें जाना है छो कर यह मदहोशी का अलम। काश ! पल भर हम दोनों देख लेते। एक साथ, एक रात, यह चाँदनी का खेल !'

भैया जी ने ब ा लोचदार गला पाया है। बचपन से संगीत के रसिया थे। भुवन की शादी में अपना हारमोनियम लेकर एक कोने में बैठे गाते रहे। उनके लरज़ते स्वर पूरे घर में तैरते रहे, झील में तैरते नन्हें बच्चों की तरह। उनकी महत्वाकांक्षाओं और मायूसियों के गीत ! उन्होंने बीच मैदान एक

महल बनाया था। उसमें गाव-तकिए सजाए। ब` मज़बूत आधार दिए, क्योंकि वे उम्र भर उसमें रहना चाहते थे। लेकिन भैया जी भूल गए थे कि यह महल तो यहीं रहेंगे और हमें जाना होगा. . .

यह गुलाब-गुलचीनी के बगीचे, सेब-नाशपातियों के दरख़्त, हरी दूब के गलीचे ! यह सब अपने आराम के लिए रोपे, लगाए, लेकिन जब आराम का वक्त आया तो भैया जी का मन उचट गया। नही, यहाँ आराम नहीं था, सुकून नहीं था। वह कहीं खो गया था। सभी अपने-अपने सुखों की तलाश में भटक रहे थे, एक-दूसरे से बेखबर। भैया जी सुकून की तलाश में निकल प`, कंधे पर झोला और हारमोनियम लिए हुए !

भैया जी के आस-पास भी इकट्ठा हो गई। नाते-रिश्तेदारों की भी ! वे लहराते स्वर से विराग भरे गीत सुनाते और लोग प्रशंसा उछाल कर उन्हें प्रतिदान देते। लेकिन श्रोतागण की मुग्धता ज़्यादा देर बरकरार न रह सकी। वे लोग तत्काल ही ऊबकर अपनी-अपनी खोहों में लौट आए। कितने तो काम प` थे सबके। घर-गृहस्थी, कुर्सियों के तकाज़े, जीने-जिलाने के हजार टंटे ! एक आत्मीय बंधु ने भैया जी को उपदेशनुमा सुझाव दिया - 'क्यों न हरद्वार-ऋषिकेश जाकर साधु-संतों की मंडली में शामिल हो जाओ? भजन-कीर्तन से माया-मोह का पर्दा हटेगा। चित्त में शांति आ जाएगी. . . .'

भैया जी के मन पर खरोंच लग गई। वे तो खम ठोंककर ज़िन्दगी के तूफानी सागर की गहराई मापना चाहते थे, उन्हें भगो ा कैसे समझा गया?

उस बार वे छोटे ल के के पास रहने चले गए। दिन-भर बच्चों के साथ खुद को बहलाते रहे। उन्हें स्कूल में दिया होम-वर्क कराया। बिलू पीठ पर चढ़कर दादाजी को घो ा बनाता। निशू उनके साथ एक ही थाली में खाने को मचलती। रात को अपने अकेलेपन में लौटकर वे अतीत की स्मृतियाँ खुरचते रहते। हब्बा खातून के कलामों और लल्लेश्वरी के वाखों में सुकून खोजते रहते। देर तक चिनार के पत्तों पर फिसलती चाँदनी में उदास स्वर हौल-सा जगाते - काश ! तुम भी मेरे साथ देख लेते, इस जादू-भरी चाँदनी का खेल !

सुबह ढुला-ढुलाकर जगाने के बावजूद बच्चे बिस्तरों में कुनमुनाते प` रहे। रात आँखों में उँगली डाले दादाजी के गीत जो सुनते रहे थे। बहू के सिर पर कोमल स्वरों ने कठोर हथौ` चलाए। दिन में नौकरी और रात दस बजे तक रोटी-पानी निबटाकर बिस्तर की शरण ! इस दैनिक-क्रम में दरार प गई। बेटा भी कहाँ सो सका? सुबह देर से जागा और दफ्तर में बॉस की डाँट सुनी। न, ऐसे कैसे चलेगा? भैया जी को अपनी आदतें बदलनी ही प`गी। कोई विकल्प नहीं है।

बहूरानी ने निर्णय दिया, लेकिन भैया जी के पास बदलने को अब क्या बचा था? पहनने को कुर्ता-पाजामा - अक्सर बिना इस्तरी किया हुआ, पसरने को धरती का कोई भी पुँछा हुआ कोना, और पेट का गड्ढा भरने को दाल-रोटी, जैसी भी मिले। भैया जी समझे नहीं कि वह किन आदतों को बदलें।

उन्होंने बहस नहीं की, लेकिन एक नई शुरुआत की कोशिश ज़रूर की। वे फिर भी में शामिल हो गए। इस बार नाते-रिश्तेदारों में नहीं, अनजान, अपरिचित दोस्तों, रफीकों की महफिलों में। जिस जगह मनहूस ऊब का सिर निकलता देखा, भैया जी एकदम हट गए - बिलू, टीटू, बबली वगैरह के हाथ में दस-पाँच के नोट थमाकर कंधे पर अपना झोला सँभाले !

बंधु-बांधवों ने मान लिया कि भैया जी बौरा गए हैं। जाने भी में क्या ढूँढ़ रहे हैं? लोगों ने अटकलें लगाईं। कोई एक चेहरा, जो उनकी मृत पत्नी की झलक दिखा दे? नहीं, तब तो उनके झोले में उनकी पत्नी का कोई चित्र अवश्य रहता। वहाँ तो कुछ उधार लिए गए वाक्य-भर साइक्लोस्टाइल किए हुए हैं, जिन्हें वेद-वाक्यों की तरह अक्सर दुहराते रहते हैं और अपने खट्टे-मीठे अनुभव-खण्डों से जो कर, उनकी सार्थकता से आश्वस्त हो, उन पर अँगूठा लगा देते हैं।

कितना विचित्र लगता है, जब उम्र-भर गलत लगते कुछ वाक्य एक दिन अचानक सही लगते हैं? तब उन उपेक्षित वाक्यों पर हस्ताक्षर करने का अर्थ क्या हुए को अनहुआ कर अपने भीतर के अपराध-बोध से मुक्त होना होता है?

लेकिन भैया जी मुक्त कहाँ हुए हैं?

भुवन की माँ कहती हैं कि भैया जी ने दूसरों का भला करने का ठेका ले रक्खा है। अब देखो, शादी में आए हैं, सो मेहमानों की तरह अपने काम से काम रखते। खा-पीकर मौज करते। लेकिन नहीं, भैया जी सभी ज़रूरी-ग़ैरज़रूरी मामलों में टाँग अ ाएँगे - मेहमानों के खाने-पीने का प्रबंध

ठीक से हुआ? साज-सज्जा में कोई कोर-कसर तो नहीं रही? पकवानों को सूँघ-सूँघकर देखेंगे - घी-चीनी बराबर प ा? सभी आते-जातों का हाल पूछेंगे।

लतिका की बाँह पर गरम चाय गिरी तो भैया जी 'बरनाल' लेकर तुरंत हाज़िर। बीरू के पेट में दर्द उठा तो 'स्पास्मिज़ोल' की टिकिया लेकर भैया जी सिरहाने। यह तो चलो ठीक है कि भैया जी की हॉबी से परेशानी टल जाती है कभी-कभी। लेकिन भई, हद होती है किसी भी चीज़ की। शादी में कई लोग आए, किसी की नब्ज़ देख कर 'एनीमिक' बताया, किसी को 'हीमोग्लोबिन' की कमी बताई और दो-चार टॉनिकों की सूची थमा दी। लीला को आँखों का टेस्ट कराने की सलाह दी। गीतों की पुस्तक पर अक्षर ठीक से बाँच न पाई थी। कौशल्या ने प्रकट में उन्हें डॉक्टर भैया की उपाधि थमा दी, लेकिन पीठ पीछे 'सनकी' कह कर दस बोल सुनाए। वेद-वाक्यों की तरह जो मुहावरे उनकी ज़ुबान पर रहते हैं, उन्हें सुन-सुनकर लोग उकता नहीं जाते क्या?

- भैया, समय रहते चेतना चाहिए। खरोंच लगते ही मलहम लगाना चाहिए, क्यों छोटे-से ज़ख्म को नासूर बनाया जाए? भैया ! यह ताम-झाम तो यहीं रह जाएगा, चार मीठे बोल बोलो वही साथ जाएँगे....

कौशल्या तो भैया जी के सामने ही तबले पर थाप देती, मुँह बना-बनाकर गाने लगी थी - 'सब ठाठ धरा रह जाएगा, जब लाद चलेगा बंजारा....'

जीजी का परिवार उन्हें मानता है, सो घरवालों को भी उनकी ऊल-जलूल बातें सुननी प ती हैं। पर कमला तो दूर की रिश्तेदार ठहरी, वह क्यों सुनने लगी भैया जी की उल्टी-सीधी?

अब भला शादी-ब्याह में बहू की चर्चा नहीं होगी क्या? बहू के नाक-नक्श से लेकर दान-दहेज तक लोग अपनी पारखी नज़र और अनुभव से चीज़-बस्त परख ही लेंगे। भैया जी को कुढ़ने की क्या ज़रूरत थी भला?

कमला सुंदर है। अपने तीखे नक्शों पर यों भी उसे ब ा नाज़ है, सो उसने बहू के चेहरे-मोहरे को लेकर कोई फब्ती कसी होगी। किसी का मुँह थो े ही बंद किया जा सकता है? फिर वह कौन-सी भैया जी की सगी बेटी थी।

भैया जी ने सुना तो कमला से मुखातिब हुए - बुआ साहिबा, तुम्हारी आँखें तो बेहद सुंदर हैं, लेकिन तुम्हारे दाँत जरा भद्दे हैं। किसी डेन्टिस्ट से सलाह लेकर इन्हें ठीक क्यों न कराया?

कमला आधी बात सुनकर ही आग हो गई। टप-टप आँसू टपकाते भाई के सामने ख ी हो गई - तुम लोगों ने क्या मुझे इसीलिए यहाँ बुलाया कि ऐरे-गैरों से मेरी बेइज़्ज़ती कराओ?

बात एक मुँह से दूसरे मुँह तक पहुँचते गरमागरम बहस बन गई। देखते-देखते सारा हुजूम भैया जी के विपक्ष में हो गया। भैया जी गैलरी से गुज़र रहे थे कि कुछ वाक्यों की भनक उनके कान में प गई - तुमने इन दीन-ज़हान के 'भइया जी' को ज़रूरत से ज़्यादा सिर चढ़ाया है। आखिर ये हमारे कौन लगते हैं, जो इनकी उल्टी-सीधी बातें सुनें?

भैया जी पल-भर हत्बुद्धि-से सुनते रहे। कानों पर थप-थप हथौ े प ते रहे। आवाज़ों की आरी मस्तक चीरने लगी - 'आखिर ये हमारे कौन हैं, कौन हैं?'

भैया जी शून्य में आँखें ग ाए देखते रहे, खेतों में ख े बिजूके-से। फूलों, झालरों और रंगीन बल्बों से सजा घर-आँगन, हँसी-कहकहे ! यकायक जगमगाती रोशनी में आँसुओं की बूँदें थरथराईं, आकाश में तेज़ी से बिजली कौंध गई और अँधेरे कोनों में छिपे गूद , चूना उतरी दीवारों और ज़ंग लगे टीन के पत्तरों को छूकर लुप्त हो गई। शामियाने के पीछे दुबकी ये बदसूरत टूट-फूट, चिंदी-चिंदी बिखरे कागज़, पत्तलें, बारूद उ े खाली अनार, काली-नुकीली तीलियाँ, यह सब तो रौशनी के आलम में उन्होंने देखा ही नहीं था !

उन्हें नया ही बोध हुआ। उन्होंने बहुत कुछ नहीं देखा। बहुत कुछ नहीं सोचा। ऐसा कैसे हुआ? भीतर से फूट आते करुणा के झरनों में नहाते वे भूल गए कि बाहर बियाबान सहरा पसरा हुआ है। परायों की भी में घुस कर वे किस अधिकार से अपनेपन का दावा करने लगे? खालिस भ्रम और भुलावा !

भुवन की माँ ने समझाने की गरज़ से कहा, 'भैया जी, दूसरों के मामलों में दखलंदाज़ी क्यों करते हैं? छोि ए, अपना ख्याल कीजिए। आपने तो अभी कुछ खाया भी नहीं?'

लेकिन भैया जी की भूख मर गई थी। मन में तीखे आश्चर्य का संसार विशाल डैने फ फ ा रहा था। क्या सच ही वे भी में जोकर का पार्ट अदा करते रहे? अपने चुआते ज़ख्मों को फ़ाहे लगाते गीत उन्होंने परायों को सुनाए? आग्रही स्वरों का मान रखने के लिए या महज़ वाहवाही लूटने की खातिर?

भैया जी ने गले में अटकी फाँस गुटकनी चाही। कुछ ग ब ा गया था। क्यों और कैसे? वे समझ न पा रहे थे। वे तो चंद खुशी के लम्हे समेटने और बाँटने यहाँ आए थे, लेकिन शर्मिंदगी का बोझ कंधों पर ढ़ोते वापस चले जा रहे थे।

उन्होंने अपना झोला-हारमोनियम उठाया और पिछवा` के दरवाज़े से बाहर हो गए। 'सरोवर' से बाहर आते उन्होंने झोला टटोला। साइक्लोस्टाइल पुस्तिका के अंतिम मुहावरे ने जैसे हाथ जक लिया। दूर की किसी आवाज़ ने दिमाग पर दस्तक दी - जब अपने अनुभव भ्रमों को तो कर सही रास्ता सुझा देते हैं, तब तक बहुत देर हो गई होती है.....'

अंतिम हस्ताक्षर के लिए उठते उनके हाथ न जाने क्यों थरथराने लगे। पैरों के नीचे धरती डोलने लगी। उन्होंने अर्राती कमर दीवार के साथ टिकाकर मज़बूत होने की कोशिश की। उठे हाथ वापस जेब में डाले और भीतर उठती कमज़ोर आवाज़ों का गला घोंटते हुए बुदबुदाए - नहीं, मैं नहीं हारा। मैं नहीं हारा।

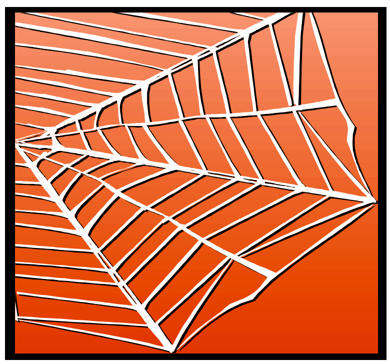

इतिहास की मुक्ति

डा. सुषम बेदी

मैं आँख मींच लेती हूँ
पीछे मु कर नहीं देखती कभी
इतिहास को।
वह चाहे सना हो काले खून से,
ऐलान हो किसी की बेध क विस्तारवादिता का,
साजो-सामान हो
किसी नस्ल के नेस्तनाबूद होने का।
शायद जानती हूँ
कि देखने लगी
तो फैल जायेंगे चारों ओर
बीरबहूटियों के साथ ही अनगिनत किस्मों के की`
खून के छींटे रंग देंगे उन पृष्ठों को भी
जो निकाल दिये गये हैं
उन किताबों से
जिन्हें स्कूली बच्चों ने आये दिन पढ़ना है
अपनी दुनिया को समझना है।
पर मेरे आँख मीचे भी
क्या कर दिया है
इतिहास ने मुक्त मुझे?
शुतुरमुर्ग की तरह
रेत में चोंच दबाये
आमंत्रण नहीं दे रही,
इतिहास द्वारा निगले जाने का?
क्या मुक्त हुआ है वर्तमान कभी
इतिहास से?
या इतिहास कभी इतिहास से?
क्या स्वप्न कभी मुक्त होता है
जागृति से?

एक रात एक इमारत में

डा. शंकर पुणतांबेकर

न्यूयार्क के एक सबर्ब की इमारत में घटित किस्सा है यह।

दूरदराज का यह सबर्ब ऐसा कि देहात भी, देहात भी नहीं; शहर भी, शहर भी नहीं।

छितरी-छितरी उग आयी इमारतें इतनी ऊँची नहीं थी जो आदमी के बौनेपन को जताती हैं। इमारतों का घनापन नहीं था, सो आदमी का घनापन लोप नहीं हो गया था, यद्यपि विराट् शहर की छाप उसके निवासियों पर थी।

ब ी अजीब ज़िन्दगी होती है सबर्बन लोगों की।

एक टाँग सबर्ब में, एक टाँग विराट् शहर में।

हाँ, कान आँख और हाथ में बँटवारा नहीं। दोनों कान, आँख और हाथ विराट् शहर के ही।

पेट तो ख़ैर विराट् शहर में होता ही है, दिल भी उसी में होता है।

देह-भर के लिए ये सबर्ब में रहते हैं विदेशी नागरिक की भाँति।

इनसे पूछिए आप कहाँ के हैं तो ये बताएँगे विराट् शहर का नाम, सबर्ब का नहीं।

सबर्ब नर्स की भाँति उन अभिशप्तों में से है जिससे कोई प्यार नहीं करता और जिसकी डॉक्टर-जैसी प्रतिष्ठा नहीं। देहात नहीं कि कविता का विषय बने और शहर नहीं कि उपन्यास का।

दूरदराज सबर्ब की यह इमारत कुछ अंतिम छोर पर ही थी।

पीटर टैक्सी में से उतरा और इमारत की ओर बढ़ा। वह इसी इमारत की आठवीं यानी आख़िरी मंजिल के एक फ्लैट में रहता था।

रात का कोई दस का समय था। पीटर यह देखकर. . . .बल्कि अनुभव करके हैरान हो उठा कि इमारत अँधेरे में ख ी है, स्वयं इमारत में अँधेरा है।

यानी ऊपर जाने के लिए लिफ्ट नहीं।

उसके होश फाख्ता, बल्कि उसे होश आया. . . .अरे, तो सीढ़ियों से ऊपर जाना होगा।

पिये हुए था, सो पहले ही गलितगात्र और सीढ़ियाँ चढ़ने के नाम अब हाथ-पैर ठंडे हो गये।

सीढ़ियाँ चढ़ने की कोशिश में वह गिर गया। आवाज़ हुई।

आवाज़ के साथ निचले फ्लैटों के दरवाज़े खुले और टार्च चमके।

कौन है यह? चोर-वोर हो सकता है। टार्चवालों ने सोचा।

लेकिन उनमें जो जैफ़र्सन, रूज़वेल्ट, लिंकन या कार्टर थे उन्होंने पीटर को पहचाना। अरे, यह तो हमारी ही इमारत का आदमी है।

पिये हुए है।

किस फ्लैट में रहता है, जानते हो?

नहीं नहीं, हम नहीं जानते।

क्लिंटन ने कहा, तुम्हें पूरा विश्वास है कि यह हमारी ही इमारत का आदमी है? ऐसा न हो कि यह कोई माफ़िया-वाफ़िया का आदमी हो। अँधेरे का फायदा उठाना चाह रहा हो।

जैफ़र्सन ने कहा, तुम भी खूब हो क्लिंटन, तुम्हें याद नहीं? हमारी कार ख़राब थी और इसने हमें लिफ़्ट दी थी. . . .

लेकिन उस दिन मैं डरते-डरते ही कार में बैठा था। मैंने इसे पहचाना नहीं था. . . .और मान लो यह हमारी ही इमारत का आदमी है, ...फिर भी यह माफ़िया का आदमी नहीं है कैसे कह सकते हैं ! क्लिंटन ने कहा।

इस पर लिंकन बोला, देखो भाई जैफ़र्सन ! बहस में कुछ नहीं रखा। अब यह सोचो इस आदमी का किया क्या जाये?

निक्सन ने कहा, उठाकर बाहर फेंक दिया जाये।

रूज़वेल्ट ने कहा, हम लोग इस समस्या पर ठंडे दिमाग से विचार करें।

कार्टर ने रूज़वेल्ट का समर्थन करते हुए कहा, आप ठीक कहते हैं। हमें मानवीयता को नहीं भुला देना चाहिए।

कैनेडी ने प्रस्ताव रखा, बेहतर है हममें से कोई इसे रात-भर अपने यहाँ शरण दे।

रूज़वेल्ट ने कहा, हाँ यही उचित होगा। और मैं इसे अपने फ्लैट में ले जाता हूँ।

जैफ़र्सन और लिंकन ने कहा, नहीं मैं अपने फ्लैट में ले जाता हूँ।

कैनेडी और कार्टर भी कह उठे, आप क्यों तक़लीफ़ करते हैं। हम इसे अपने यहाँ रख लेते हैं। रात-भर का ही तो सवाल है।

बुश चुप था।

पर निक्सन ने विरोध किया, जिस आदमी को हम ठीक से जानते नहीं हैं उसके बारे में हम लोगों का ऐसा सोचना ख़तरे से खाली नहीं है।

एक फ्लैट का और दरवाज़ा खुला। रीगन बाहर आया - क्या ग ब है, क्या ग ब है भाई लोगों, कहता हुआ।

जब बुश ने बताया क्या माज़रा है तो रीगन बोला, ओह घरेलू मामला है। वरना मैं कहता केस्ट्रो हो तो बाहर फेंक दो, भुट्टो हो तो इज़्ज़त के साथ उसके फ्लैट में पहुँचा दो।

तभी वहाँ खाना खाने आउट-हाउस में गया हुआ वॉचमैन आया। उसने पहचाना और बताया कि वह पीटर है और आठवीं मंजिल के आठवें फ्लैट का निवासी है।

तो ले जाकर तुम उसे ऊपर पटक आओ। निक्सन ने कहा।

वॉचमैन के मना करने पर कैनेडी ने उससे कहा कि वह कोई मज़दूर पीटर को ऊपर उसके फ्लैट तक उठा ले जाने के लिए ले आये।

पास ही मज़दूरों की बस्ती थी। वहाँ से वॉचमैन एक मज़दूर को ले आया।

मूलतः इटली का था वह। रीगन ने जब उसे पीटर को ऊपर ले जाने को कहा तो बोला, नहीं, नहीं ले जाऊँगा मैं। आपकी अहंकारिता ने मुझे याद है मेरी कला को ठुकराया था। सो मैं आज आपके आदेश को ठुकराऊँगा।

उसके बाद दूसरे मज़दूर को निक्सन ने कहा। यह दूसरा मज़दूर भारत का था। इसने निक्सन से कहा, माफ़ करें मुझे। मैं इस आदमी को ढ़ोकर ऊपर नहीं ले जाऊँगा। मैं देख रहा हूँ आप वह आदमी हैं जिसकी शस्त्रनीति ने मानवीय संस्कृति को दहशत की गर्त में ढ़केल दिया है।

अब वॉचमैन तीसरा मज़दूर लाया जो अफ़्रीका का था। इसने भी पीटर को ऊपर ले जाने को मना कर दिया। उससे क्लिंटन ने बात की थी। यह मज़दूर क्लिंटन से बोला, नहीं। मुझे आपका काम मंज़ूर नहीं। मुझे आपके आदेश की उपेक्षा करते ब ी ख़ुशी है, क्योंकि इससे मैं आपकी उस उपेक्षा का कुछ-कुछ बदला ले सकूँगा, जिसे आप अपनी अर्थतंत्र की नीति में अपनाकर देश-देश के बीच की समानता को नष्ट-भ्रष्ट करते हैं।

इसके बाद वॉचमैन और नहीं गया।

क्या किया जाये? क्या पीटर को यहीं प ा रहने दिया जाये?

लिंकन बोला, चलो हम चलकर इस बारे में वाशिंगटन से पूछें।

वाशिंगटन इन सबमें उम्र में ब ा था। इधर उसे कुछ बुख़ार था सो बाहर नहीं आया।

वाशिंगटन से पूछने लोग गये। हाँ, क्लिंटन और निक्सन नहीं गये। उन्हें मालूम था वाशिंगटन कहेगा, पीटर के साथ मानवीयता से पेश आओ और उसे तुम लोग अपने यहाँ आश्रय दो।

उनकी मानवता की नीति दोनों को पसंद नहीं थी, सो लोगों के जाने के बाद दोनों ने मिलकर पीटर को उठाया और बाहर स क पर फेंक दिया।

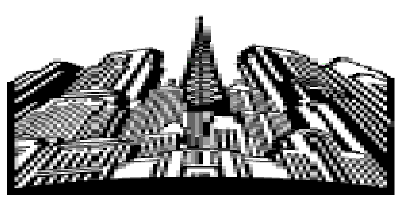

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित